TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL LIBRARY

OU_178457

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83.1 | P14 C Accession No. G.H. 1134

Author पहाड़ी ।

Title छाया में । 1947

This book should be returned on or before the date last marked below.

छाया में

[चौबीस सामाजिक कहानियाँ]

पहाड़ी

प्रकाशगृह, इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण : १९४८

दो रुपया चार आने

मुद्रक—श्यामलाल, प्रेम प्रेस, कटरा, इलाहाबाद

प्रिय उर्मिला को

इस संग्रह में चौबीस सामाजिक कहानियाँ हैं। प्रथम संस्करण में बारह कहानियाँ थीं। इसमें बारह और जोड़ दी गई हैं।

आज कथा का युग है और ये कहानियाँ एक नए दृष्टिकोण की ओर इशारा करती हैं। आशा है कि पाठकों को दिलचस्प लगेंगी।

३१ ए बेली रोड, प्रयाग

पहाड़ी

सूची

१.	अविश्वाश या	८
२.	रधिया	१६
३.	खेल	२६
४.	तमाशा	३६
५.	व्याख्याहीन जीवन	४६
६.	विवेक का सवाल	५४
७.	वह कौन	६१
८.	धुत	७३
९.	हेम को एक पत्र	८४
१०.	अवहेलना	९३
११.	एकाकी वीर	९९
१२.	कुछ रोज	११३
१३.	सरोज को एक पत्र	१२९

१४. काली बाबू • १३३
१५. सिलसिलेवार घटनाएँ • १४१
१६. कामिनी • १४६
१७. चीन के आँचल में • १५६
१८. सपने की दुनिया • १६६
१६. नीनी • १७८
२०. एक दृष्टि • १८६
२१. काँटा • १६२
२२. मलिन छाया • २००
२३. आविष्कार • २१०
२४. छाया में • २२५

अविश्वास या

"आपने इस गाड़ी के इञ्जन का नम्बर पढ़ा ?" मेरे साथी मुसाफिर ने मुझसे पूछा।

"नहीं।" मैं उसकी ओर देखता हुआ बोला।

"तो फिर·········।"

"क्या है ?"

"तेरह।"

"आखिर इसमें नई बात !" सामने बैठे हुए बंगाली बाबू ने अपनी आँखों के आगे से अखबार हटाते हुए उत्सुकता प्रकट की।

और वह व्यक्ति एक सन्दिग्ध झुंझलाहट में बोला, "शायद आप लोग यह नहीं जानते हैं कि यह नम्बर नाश का सूचक है। जिस महीने की तेरह तारीख को आसमान पर सिर्फ तेरह तारे दीख पड़ेंगे और तेरह बार बिजुली कड़केगी, उसी दिन प्रलय होगा।"

"तब तो आज हमारी गाड़ी पर भी·········।" सामने बैठे एक साहब ने कुछ कहना शुरू किया था कि एक नौजवान साथी ने बात काटी, "ऐसी बात न कहो। इस दुनिया में वैसे ही बहुत दुःख बिखरा पड़ा है।"

"आज ऐसी बातों पर विश्वास कर लेने का जमाना नहीं है।" कोई महानुभाव अपना तर्क पेश करने में नहीं चूके।

तो मेरे साथी ने उलझन और अचरज हटा कर कह दिया, आपको क्या यह मालूम नहीं है कि उस साल तेरह तारीख को सूर्यग्रहण पड़ा था, तो एक शहर में भूचाल आया, एक नाव डूबी और एक मालगाड़ी एक्सप्रेस से लड़ी थी।"

सामने कुछ लड़के ताश खेल रहे थे, हमारी बातों को सुन कर उन लोगों ने खेल बन्द कर दिया। एक उठा और हमारे पास आकर बोला, "आप लोगों में से कोई आदमी ताश का एक पत्ता निकाल ले। उस पत्ते से भी भाग्य अजमाया जा सकता है।"

किसी ने उन फैले पत्तों में से एक पत्ता निकाल कर देखा। उतने सारे पत्तों के बीच से जैसे कि वह अपने भाग्य का निर्णय करना चाहता हो। वह हुक्म का एक्का था।

"ठीक!" कालेज के विद्यार्थी ने समाधान कराते हुए कहा, "ताश का पत्ता भी आने वाली विपत्ति की सूचना दे रहा है। नहीं तो यह मनहूस पत्ता ही क्यों निकलता।"

सब के चेहरे फक्क हो गये। जैसे कि यह पत्ता, किसी भयानक व्यवस्था की ओर आगाह कर गया था। मेरे दिल पर भी एक गहरी निराशा छा गयी। एक भारीपन और पीड़ा थी। जैसे कि कोई घाव दुःख रहा हो। कभी-कभी मन अनायास उचाट हो उठता था।

और यह बात............!

रेल का सफर भी अजीब ही होता है। एक डिब्बे में कई अनजान आदमियों के बीच बैठे रहना। उनकी बातों और धारणाओं में अपने को चालू कर, निजी राय देना। फिर 'प्रेम का चलचित्र' और दुःखान्त के अध्यायों के निर्माण के लिये कभी-कभी वह उपयुक्त जगह साबित होती है; किन्तु आज के सफर में नहीं सोचा था कि यह भी सुनना पड़ेगा। माना कि हम अलग-अलग व्यक्ति हैं, जिनके ख्यालात और दलीलों में कहीं समानता नहीं। और बिन्दुमात्र से शुरू होने वाली इस दुनिया में जब शून्य से इतनी आबादी बढ़ गयी, तब किसी बात पर अविश्वास नहीं होता है। जो हो जाय उसे नया कैसे मान लें?

"तेरह।" मेरे बगल वाला गुनगुनाया।

"क्या है।" मुझे बात पूछनी जरूरी लगी।

१ + ७ + ५ = १३ तेरह! मेरे टिकट के नम्बरों का जोड़ है।

अब विश्वास हो गया कि इन सब बातों के मिल जाने पर जरूर कोई अनहोनी बात होकर रहेगी, जिसके लिये हर एक को तैयार रहना पड़ेगा। जैसे यह विपत्ति अब नहीं टलेगी। किसी को छुटकारा नहीं मिलेगा, हर एक पर यह बात लागू होती मिली। वह गिनती और संख्या हमारे जीवन-हिसाब से

सम्बन्धित है, आज तक यह नहीं सोचा था। यह सब जान लेने का अवसर भी कभी नहीं मिला। भले आदमी बेकार का झगड़ा कब मोल लिया करते हैं।

एकाएक गाड़ी ने क्षीण-स्वर में सीटी दी। सब चौंक उठे। लगा कि जो सोचकर तय किया, वह अकाट्य ही है। एक दूसरे के चेहरे की ओर देखने लग गये। हर एक वैयक्तिक-रूप में अपने को समझने लगा। बाहर सांय-सांय हवा चल रही थी। सब सभल गये। गाड़ी रुक गयी थी। चारों ओर घना जंगल था। बाहर सिगनल का रंग लाल था। लेकिन गाड़ी फिर चल पड़ी। हरएक अपने में अपने बीते जीवन की यादगारें टटोलने लगा। दुःख में सर्वदा सही बातें याद आती हैं।

न जाने किसने पहले-पहल अपने दिल का ताला तोड़, भावुकता में अपने जीवन पर लागू होने वाली घटनाओं का बखान शुरू किया। वह जो बूढ़ा किनारे पर था, उसके आगे-पीछे कोई नहीं। आज निपट अकेला है। उसकी मौत पर, उसका अपना कोई भी अफसोस करने वाला नहीं। वह भी गृहस्थ था। उसके बीवी-बच्चे थे। एक साल की प्लेग में सब सफाई हो गयी। तब से वह फकीर बना तीर्थयात्रा किया करता है।

उसके पास बैठे आदमी ने समझाया, "यह बेकार बात है। होनहार भी कभी टला है। उस भविष्य को कौन पकड़ पाया ?"

कि सामने बैठे वकील साहब ने बात शुरू कर दी, "आप लोग शायद यह नहीं जानते कि मुझे हृदय रोग है, डाक्टरों का कथन है कभी कि हृदय की गति रुक सकती है। अब सोचता हूँ उसने ठीक कहा था। कभी कहीं भी मौत आ जायगी। मेरा दिल मिचला रहा है। सांस की गति तेज महसूस होती है। मेरा तो विश्वास है मेरी मृत्यु निकट आ गयी। मैं अपनी वसीयत और कागजात वगैरह ठीक करके वकील के पास सौंप आया हूँ। आप लोग बेकार कुछ न सोचें। मुझे ही मरना है। यह झूठ नहीं होगा। मनहूस घड़ी मुझ पर टल जायगी।"

तभी एक विद्यार्थी कह बैठा, "आप गलत कह रहे हैं। मुझे तो जीने का जरा भी उत्साह नहीं है। न जाने किन-किन उम्मेदों के साथ एम०

ए० पास किया था। पास करने के बाद सोचा कि अब निश्चिन्त होकर रहूँगा। लेकिन मुसीबतों ने साथ नहीं छोड़ा। बेकारी—बेकारी! पिछले दिनों रहने और खाने-पीने की ठीक व्यवस्था न होने के कारण से बीमार पड़ गया। सरकारी अस्पताल में भरती हुआ। खांसी लगातार जोंक की तरह चिपटी रही। बुखार आया करता था। डाक्टरों ने दो महीने रखने के बाद यह कह कर निकाल दिया कि क्षय के मरीज का क्या है। यह तो सालों रोग घसीटता-घसीटता पंगु की तरह जीवित रहा करता है। अस्पताल कोई स्वर्ग के रोगियों के लिये आश्रय थोड़े ही है। अब आप ही समझिये कि मैं उत्साह कहाँ से बटोर लाऊँ। मैं खुद उस मौत से निपटना चाहता हूँ, ताकि इस शरीर से छुटकारा पा जाऊँ। आज तेरह का नम्बर देख कर......।"

वह खाँसने लगा। बड़ी देर तक उसकी खुट-खुट-खुट करती खाँसी डिब्बे के पटड़ों पर खट-खट-खट बजकर प्रतिध्वनित हुई। वह सुस्त पड़ कर धीमें स्वर में बोला, "ऐसी जिन्दगी को चालू रखने से क्या फायदा है। आज अब निश्चिन्त हो ....।"

"ओ-हो-हो-हो!" हमारे नजदीक बैठे, बरांडकोट पहिने, पलटन के हवलदार ने हंसते हुए कहना शुरू किया। "मौत की मंजिल पार करने वाले, एक ऐसे ही दिन मैंने प्रेम किया था।"

"प्रेम!" मैंने धीमे स्वर में प्रश्न किया।

"हाँ, फ्रांस की बात है। तब मेरी उम्र अट्ठाइस साल की थी। रात को हमारी टोली ने जरमनों की एक टुकड़ी पर धावा बोला था। मैं घायल हुआ। अस्पताल की चारपाई पर लेटा-लेटा बहुत निराश हो जाया करता था। सोचता कि मौत अपनों से हजारों मील दूर परायों के बीच आयी है। उस अवस्था में मैं पागलों की तरह रोया करता था। आप यह तो जानते हैं, 'मिलटरी' की नर्सें दयालु नहीं होती हैं। सब यही कहते हैं। खुद यह बात मैंने परख ली थी। व्यक्ति की मौत का हाल एक तीक्ष्ण फीकी मुस्कान के साथ सुनाने में वे प्रवीण होती हैं। उनकी हंसी में सर्वदा निर्दयता का कठोर पुट मिलता है। किन्तु जो नर्स मुझे देखने आया करती थी। मेरे साथ उसका व्यवहार बहुत उसका

सहृदयतापूर्ण था। बड़ी-बड़ी देर तक पास लोहे की कुर्सी पर बैठी, छेद-छेद कर बातें पूछती। वह अपने में मेरे घर के हर एक व्यक्ति की जानकारी का ज्ञान भी न जाने क्यों संवार कर रखना चाहती थी। एक दिन वह नारी भावुकता में बोल बैठी, "जानते हो, मैं तुम्हारा इतना ख्याल क्यों रखती हूँ?"

'क्या?' मैं आश्चर्य में बोला था।

'यह देखो।' कह कर उसने मेरे पलंग से लटकी नम्बर वाली तख्ती उठा, मुझे सौंपते हुए कहा, 'इसे अभी-अभी बड़ा डाक्टर लगा गया है।'

"मैंने देखा था कि '×' का चिन्ह बना हुआ है।

"वह बोली, 'यह मौत का चिन्ह है।'

– 'मौत का?' मेरा सारा शरीर कांप उठा था।

'हाँ, हमें जल्दी चालीस आदमियों को जगह देनी है। लाचारी में बिस्तर खाली करवाने हैं। इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है कि बेकार पड़े मरीजों को मार डाला जाय। उनको रखने से लाभ ही क्या होगा। इसीलिये डाक्टर प्रति दिन चक्कर लगाकर, ऐसे मरीजों की तख्तियों पर यह निशान लगा जाता है, फिर हमारे पास जहर के इंजेक्सन देने के अलावा कोई खास काम नहीं बचता। आज्ञा नहीं टाल सकती है।'

"मैं कुछ नहीं कह सका था। कैसी दुनिया थी वह। और इस सभ्यता का नतीजा कहाँ पहुँचने वाला है! जहाँ एक दूसरे की मौत तक का इन्तजार नहीं करता है। जरूरत के आगे, आदमी के जीवन की कोई परवा नहीं।

और वह बोली थी, 'आज चौथा दिन है। रोज मैं वह चिन्ह मिटा देती हूँ। जानते हो क्यों? मेरा एक भाई था। तुम जैसा, तुम्हारी ही उम्र, का था। वह पिछले हफ्ते इसी अस्पताल में मर गया।' कह कर, वह टप-टप टप आँसू बहाने लगी थी।"

—यह कहकर हवलदार ने अपनी जेब से मैला चमड़े का बटुआ निकाल कर, एक फोटो सबको दिखलाया। वह उस युवती नर्स का फोटो था।

"चुप रहो!" कोई चिल्लाया।

"क्या है?"

"तुमने नहीं सुना !"

"क्या ?"

"वह सामने जंगल की ओर··· ······"

उसी समय शृंगालों की हूआँ–हूआँ–हूआँ सुनाई पड़ी। निपट सन्नाटा था। गाड़ी सरसराहट के साथ आगे बढ़ रही थी, जैसे कि उसे हम सबकी मौत से कोई वास्ता नहीं है।

वह बोला "अभी मैंने देखा कि वह ऊपर सामने जंगल से एक मनुष्य ऊँचा उठा। वह उठता चला गया और आसमान को छूकर, एकाएक न जाने कहाँ लोप हो गया है।"

"लोप हो गया ?" किसी ने पूछा।

"वह भूत था।"

"भूत !"

"यह सच बात है। बचपन में मैं मिडिल-स्कूल में पढ़ा करता था। तब हम लोग शनीवार की रात को अपने घर लौट आते थे। अगले हफ्ते के लिए सामान ले जाना पड़ता था। एक दिन हम गाँव लौट रहे थे ? रास्ते में रात पड़ गयी। गांव से दो मील पर भैरव की गढ़ी है। वहीं हमने रात काट लेने की ठानी। देवता से भूत डरते हैं, उसके नजदीक इसी लिये नहीं जाते हैं। आधी रात को कोई मेरे साथी का नाम लेकर पुकारने लगा। मैंने डर कर अपने साथी को जगाया। हमने देखा—सामने कुछ दूरी पर सवारों की एक पलटन खड़ी थी। सब सफेद कपड़ों में सुफेद घोड़ों पर सवार थे। उनका कप्तान हमारी ओर देखता हुआ, उंगली से हमें अपने पास बुला रहा था। फिर नहीं मालूम क्या हुआ। हम दोनों अगले दिन बेहोश वहाँ पड़े मिले थे। मेरा साथी तीन रोज के बाद मर गया था ! आज मुझे वही याद हो आयी है। जरूर वह भूत ही था। मुझे उसने बुलाया। आप लोग अब न डरें ! मुझे निश्चय ही मरना है। फिक्र ही तब क्यों की जावे।"

मैं चुपचाप सबकी बातें सुन रहा था। सोचता, इस दुनिया में आदमी और उस के किस्से कभी समाप्त नहीं होंगे। भले ही एक दिन हम

मिट जावें। उमसे इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। इन इतनी सच्ची घटनाओं को सुनकर कोई सान्त्वना नहीं मिली। यह ठीक जंचा कि इस दुनिया में मौत मांगने वालों की प्राप्त संख्या है। भले ही मौत उनके बहकावे में नहीं आवे। और यह मौत आकर, जब एक दिन सबको ढक लेगी तब क्या होगा? माना, मौत आकर बारी-बारी से सबको साथ ले ले! इन सारे किस्सों को सुन लेने तक मौत बैठी नहीं रहेगी। और तेरह नम्बर का इन्तज़ार......!

मेरा ध्यान उस कोने में चुपचाप बैठे युवक की ओर गया। वह अपनी किताब पढ़ने में मस्त था। बीच-बीच में सिगरेट फूंकता; एक भरी दृष्टि से बार-बार हमें देख लेता था। सब अपनी बातों में इतने मशगूल थे कि उसकी ओर देख लेने की फिक्र किसी को नहीं थी। न वही हमारे बीच आना चाहता था। उसे इन बातों से कोई खास दिलचस्पी न लगी। वह अपने में ही मग्न था। इतना हल्ला; यह उलझन, मौत का वह सवाल—कुछ भी उसे घेर आकर्षित नहीं कर सका। वह बीच-बीच में सिगरेट फूंकता, बातें सुनने सा लगता और फिर अपनी किताब में डूब जाता।

मैंने पास जाकर कहा, "माफ करना दोस्त। क्या आपको हमारी बातों से कोई दिलचस्पी और मतलब नहीं है?"

"मतलब!" उसने मुझे घूरते कहा हुये। फिर किताब बन्द कर दी।

"हमारी बातें आपने सुनी?"

उसने सिगरेट का पैकट मुझे सौंपते कहा, "पहिले यह लीजिए। दुनियाँ भर की बातों पर क्या राय दी जावे। फिर हमें हर एक की जिन्दगी या मौत का ठेका तो लेना नहीं है। वैसे कुछ मौत है भी नहीं कि हम उससे वास्ता रख लें। समझ लो हम जिन्दा हैं—ठीक है। मर जावें—वह ठीक ही होगा। कहीं गलत अपने को क्यों मान लें। मौत आवे—आवे। यदि नहीं आवेगी, फिर भी हमें फिक्र नहीं है।

"आपका अजीब सा तर्क है?"

"आपही न सोचिये, गाड़ी लड़ गयी या हम सब मर गये, वहीं पर कहानी नहीं निपट जायगी। उसके साथ जो पिछली जान-पहचान है, वह तो नहीं मिट

जायगी। लाशों के फोटो अखबारों में छपेंगे। पहचान होगी, रिश्तेदारों का गिरोह सवाल-जवाब, करेगा। यदि कोई लावारिस ही निकल जायेगा तो उसके हिफाजत वाला सन्देह बरतना व्यर्थ बात है।"

मेरी समझ में कुछ भी बात नहीं आयी। भय तो सबको घेरे था। अब इस दलील पर टिकने की क्या गुञ्जायश थी।

लेकिन वह बाला ही, "मेरी कोई खास कहानी नहीं है। साधारण बात, प्रेम और उम्मीद का चल-चित्र है।"

"आप क्या कहना चाहते हैं ?"

"यही कि मैं आशा और प्रेम को विवाह के ऊपर मानता हूँ। आशा पूरी हो और प्रेम भी चले—दोनों बातों का कौन सा लगाव है। यह धारणा गलत है। मैं यह कब कहता हूँ कि मुझे जीवित रहने में खुशी है या अपनी मौत पर दुःख होगा। मौत निराशा के घावों को कभी न भर सकेगी। ताश का खेल ? हुकुम का इक्का मैंने ही निकाला था। कोई खास बात मुझे नहीं लगी। वहाँ मेरे हाथ में आया था। उसकी किसी परवा को अपने पर लागू नहीं करता हूँ। वैसे ताश और भाग्य के मामले में, मुझे कभी अपने भाग्य के प्रति अविश्वास नहीं हुआ है। यही मेरी अपना सामर्थ्य समझिए।"

"सुना कि जो ताश पर विश्वास करते हैं, वे प्रेम पर अविश्वास बरतने की ओर उदासीन नहीं रहते।"

"आपका मतलब यही है न कि मैं निराश प्रेमी हूँ। बात ठीक नहीं है।"

वह रुक पड़ा। बाकी सिगरेट के टुकड़े को खिड़की से बाहर फेंक दिया। गाड़ी किसी स्टेशन पर ठहर गयी थी।

"————स्टेशन है।" कोई बोला।

"यहाँ वह सामने वाला मकान है न। वहीं मेरी माँ की मौत हैजे से हुई थी।" एक मुसाफिर बीच में ही बोल बैठा।

गाड़ी चलने लगी थी। मैं उसी युवक की ओर देखने लगा। वह बहुत चिन्तित सा लगता था। उसने बोलना शुरू किया, "कुछ भी हो मुझे अपने

जीवन से काफी सन्तोष है। कहीं मुझे कमी नहीं लगती है। इस वक्त मैं अपने एक दोस्त के पास जा रहा हूँ। उसकी बीबी मेरे साथ कालेज में पढ़ती थी। मैं उसके कुछ प्रेम सा करने लगा था। एक दिन जब उसने मेरे दोस्त के साथ विवाह किया, तब मुझे बेहद खुशी हुई थी। कल दोस्त का तार मिला। उसकी पत्नी ने मुझे बुलाया है। वहीं इस वक्त जा रहा हूँ। वह बड़ी सुन्दर लड़की है। ऐसी लड़की मैंने आज तक नहीं देखी।"

यह कह कर उसने अपने दोस्त के घर का पता लिख कर दे दिया और अनुरोध किया कि मैं अगले किसी दिन उससे जरूर मिल लूँ।

तीसरे दिन मैं लिखे पते पर पहुँचा। उस लड़की को देख लेने का सवाल मन में था। उसने उसकी कितनी तारीफ नहीं की थी। वहाँ पहुँचा। पहुँच कर दरवाजा खटखटाया। एक युवक बाहर निकला। मैंने अपना नाम बतला दिया।

वह बोला, "मैं खुद आपका इन्तजार कर रहा था। बैठिए, आपके दोस्त एक लिफाफे में चिट्ठी लिख कर आप के नाम छोड़ गये हैं।" उसने लिफाफा लाकर मुझे दे दिया। मैंने खोल कर पढ़ा। लिखा हुआ था :

दोस्त,

मौत,—जीवन और भाग्य, छोटी-घटनाओं के लगाव से अलग नहीं हैं—यह ठीक बात भी है। मैंने अक्सर ताश के खेल में, हुकुम के इक्के आने पर बाजियां जीती हैं। ट्रेन में जब वह निकला, अपशकुन के प्रति अविश्वास मैंने किया था। तथ्य की बात वह नहीं लगी थी। समझता था कि सारी दुनिया के विश्वास में अकेला खड़ा रह अपने को जीत सकने की सामर्थ्य रखता हूँ।

लेकिन जब कि मैं यहाँ पहुँचा, तब देखा—वह बिल्कुल पीली पड़ गई थी। मुझे देख कर हंसी। अपने पास बुलाया। कमरे में सन्नाटा था कोई हमारे नजदीक नहीं था। उसने कहा, 'जानते हो, मैंने तुमको अपने पास क्यों बुलाया है ?"

'मुझे !'

'हाँ।'

'मैं क्या जानूँ।'

'सुनो, मुझे तुम्हारी जरूरत थी। आज तक तुमसे एक बात छुपाई है। अब वह सब अपने पास रखना नहीं चाहती हूँ।'

'मैं चुप रहा।'

'वह मेरा हाथ, अपने में लेकर बोली, 'जानते हो, मैंने अपने जीवन में सब से ज्यादा किसे प्यार किया है?'

'———' मैंने अपने दोस्त का नाम लिया।

'तुमारा समझना ठीक है। मैंने पति के प्रति सर्वदा अपना कर्तव्य निभाया। यह जान कर भी कि तुम्हारे अतिरिक्त मैं किसी से प्रेम नहीं कर सकूँगी। यदि हम विवाह कर लेते, तब यह बात निभ नहीं सकती थी। हम दोनों में कोई ऐसा नहीं था, जो दूसरे पर जोर डाल सकता। हम तो एक से कमजोर थे। जानते नहीं हो तुम—एक आकर्षण होता है पुरुष में। वह तुम में पाकर भी मैंने लाचारी विवाह किया था। तुमने कभी पूछा नहीं, समझाया कब था। मैं भला क्या कहती। तुमने समझा कि मैं आजीवन संतुष्ट रहूँगी। इनकार नहीं करती। फिर भी एक ख्वाहिश मेरी थी। वही तुमसे कह, उस भारी भेद के भार से अब बरी हो गयी हूँ।'

"—वह मर गयी थी। तब मैंने जाना कि दुनियाँ कुछ बहम पर भी जरूर टिकी है। तो एक ख्याल आया कि जीवन से खेल क्यों न खेल लूँ।

"मैंने अपनी छ नली पिस्तौल में सिर्फ एक कारतूस भरा है। यह मुझे याद नहीं है कि वह किस खाने में हैं। अब मैं दो 'फायर' हवा में कर, तीसरा अपने माथे पर करूँगा। सिर्फ एक बार मुझे परीक्षा लेनी है। यदि वह खाली होगा या गोली पहली दूसरी में छूट जायेगी, तो मैं फिर कोशिश नहीं करूँगा और सोच लूँगा कि मुझे जीना जरूरी है। यदि मैं मर जाऊँ, तब यह एक कहानी ही रहेगी। यदि मैं सच ही मर जाऊं, तो रेल के उन मुसाफिरों का कथन गलत होगा कि भाग्य से लड़कर हम उसे धोखा नहीं दे सकते हैं। कोई एक मरने वाला जरूर था। वह भूतवाला, वकील, क्षय का रोगी या……अपने को उनमें न गिन, उनका मजाक मैंने जरूर उड़ाया है। अब यह खेल. खेल लेने के लिए मजबूर हुआ हूँ।"

अपने पत्र में उसने हुकुम का एक्का रख दिया था।

मैं अवाक् रह गया। उसके दोस्त से आश्चर्य में पूछा, "वह कहाँ है?"

वह मुझे अपने साथ ले गये। कमरे का दरवाजा, खोला, खिड़की पर पड़ा रंगीन परदा हटाया। देखा मैंने : वह जमीन पर चित्त पड़ा हुआ था। उसकी कनपटी पर एक नीला घाव था और उस पर काला खून जम गया था।

रधिया

आधी रात बीत जाने पर जब काशी नहीं आया तो रधिया कांप उठी। आपस में उनका झगड़ा रोज ही हुआ करता है। काशी भले ही उसे मारता-पीटता है, फिर भी वह उसका सगा है। उससे वह गुस्सा होकर आखिर समझौता कर लेना सीख गयी है। रधिया और काशी दो नहीं, उनकी एक गृहस्थी है, जिसकी जिम्मेवारी दोनों पर है और वे उसे चलाया करते हैं। काशी के प्रति उसके दिल में विद्रोह भी उठता है। वह काशी तो अब बहुत बदल गया है। पहले ऐसा नहीं था। तब उन दोनों के बीच झगड़ा होकर, बात बहुत नहीं बढ़ती थी। जीवन में नयी आकांक्षा और उम्मीदें थीं। काशी एक युवक था और रधिया एक सुन्दर छोकरी। दोनों आपस में एक दूसरे को खूब प्यार करते थे। अब तो जवानी का वह उफान चुक गया था और दोनों के जीवन के बीच 'युग की दासता' ने एक खाई डाल दी थी। जिसे पाकर उनमें अपना-अपना असन्तोष बढ़ रहा था।

सात साल पिछला जमाना। तब काशी में कोई बुरी आदत नहीं थी। वह सारे मुहल्लों के लड़कों के गिरोह का सरदार था। उसकी शरारतों से सब घबराया करते थे। उसके साहस की चर्चा सब में चालू रहती थी। एक दिन मेले से लौटते हुए रधिया अकेली छूट गयी। वह दिन आज याद हो आया। मेले में बड़ी भीड़ थी। उसके सब साथी आगे बढ़ गये। वह उनको ढूँढ़ने लगी

कि सांझ हो आयी थी। बस, वह जल्दी-जल्दी घर की ओर बढ़ गयी। लेकिन राह में उसे गुन्डों ने घेर लिया। वे उससे अश्लील मजाक कर, उसे छेड़ने लगे। वह तो घबरा गयी थी। उसी वक्त वहाँ काशी पहुँच गया और काशी……

"काशी आ गया।" रधिया की सास ने पूछा। वह बुढ़िया फटे पुराने गुदड़ों के बीच पड़ी है। बहुत तेज बुखार में अपनी मौत का इन्तजार कर रही है। इस बीमारी में भी बीच में टें-टें-टें लगाये रहेगी। रधिया का तो अंग-अंग टूट रहा है। वह बहुत कमजोर है। अब उसमें ताकत नहीं है। इस पर भी अभी-अभी एक अजीब काण्ड हो गया।

इन मजदूर दल वालों को न जाने क्या पड़ी रहती है। एक हरताल करने को कहेगा, दूसरा मजदूरों को भड़कायेगा। जैसे कि यह सारे हकों की लड़ाई काशी और रधिया के लिए हो रही है। जिसे जीत कर वे दोनों चैन की वंशी बजायेंगे। उस वंशी का स्वर-साधन ठीक करने के लिए एक 'पव्वा' कन्टरी काशी पिया करता है। पिये बिना जैसे कि गाड़ी अटक जायेगी।

शायद वे लोग नहीं जानते कि काशी निगोड़ा नहीं। उसकी माँ है उसकी बीबी है, उसके बच्चे हैं। इसी लिये उसे हड़ताल में अगुआ बनाना अनुचित होगा। उसको नारे लगा गलत जोश सौंपना एक भूल है। उसे अपनी टूटी-उजड़ती हुई गृहस्थी को संभालने के लिए पैसा चाहिए। वह पैसा मजदूरी से मिलता है। मजदूरों की अजीब हालत होती है। वे बात को ठीक समझे बिना हो कभी-कभी जलूस निकाल दिया करते हैं। जब एक दल हड़ताल कर देता है, तो दूसरा दल सहानुभूति दिखाने के लिए काम छोड़ देगा। तीसरा दल इसे एक 'फैशन' मान उसमें शामिल होता है और उससे मजदूरों की आवाज सही 'व्यक्तित्व' नहीं बन पाती। कभी-कभी तो साधारण कच्ची चोटें खाकर ही वह सब थोथा साबित हो जाता है।

कुछ भी हो, बुराई के भीतर बुराइयां है और उनको समझ कर ही काशी और उसके साथियों ने वह शहर छोड़ दिया। दिन-भर वे सफर करते रहे। उस दल में एक निठल्ला युवक भी था, जो हर एक बात मजाक सी कह देता था।

चोखे तो बोला, 'काशी' मुझे घर चार रुपये भेजने हैं। सुधिया बीमार हैं। अगले कस्बे के पोस्ट आफिस से 'मनिआॅर्डर' कर देना।'

'चुप भी रह चोखे, पहले अपने पेट की फिक्र कर। मरने वाले को कोई नहीं बचा सकता है।" काशी ताव से बोला।

रधिया ने इसी वक्त काशी की ओर देखा। उसका बदन टूट रहा था। एक बच्चा गोदी में और एक पीठ पर था। वह बार-बार भीगी पलकों को पोंछ लेती थी। काशी के सिर पर कपड़ों की गठरी थी और हाथ पर बरतनों की बोरी। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। चोखे फिर बोला ! 'काशी।'

'क्या है चोखे ! यही न सुधिया मर जायेगी। अच्छा है इस पापी दुनिया से तर जायगी हमी जीकर क्या कर रहे हैं।"

इसी बीच एक और मजदूर बोला, 'वहाँ तो हम बेकार नहीं रहेंगे। काम मिल जायेगा न।"

'हम किसी मिल के भीतर घुस जायेंगे।' दूसरा मजदूर दम्भ में बोला।

'भीतर !' चोखे की समझ में बात नहीं आयी।

'क्यों, डर की बात क्या है। वे काम नहीं देंगे, तब वहाँ के मजदूरों को बहका कर हड़ताल करवा देंगे।'

वह 'हड़ताल' जैसे कि उनकी सब परेशानियों को सुलझा सकती है। पैसे के सहारे खड़ा रहने वाला मजदूर जब भूखा रहता है, तो वह निर्माण की बात कदापि नहीं सोच सकता है। वह क्या करे ? उसकी मजबूरी ऊपर उठ आती है। वह अपने को नष्ट होता देखकर फीकी हंसी हंसता है। उसके चारों ओर एक बड़ी भीड़ लगी रहती है। उसकी दृष्टि ताड़ीखाने, कण्टरी की दूकान, सूद देने वाले पठान और मिल के मालिकों से बाहर जैसे कि कभी नहीं पड़ेगी।

'पोस्टआफिस के नजदीक पहुँचने पर चोखे बोला, 'काशी, 'मनिआडर' करदे।'

'मनिआडर ! मनिआडर !! क्या चिल्ला रहा हैं।' काशी खीसें निकाल कर बोला।

उसकी बड़ी आँखें लाल थीं। मानो कि दुनिया और भगवान पर आया सारा गुस्सा उबल पड़ा हो। रधिया का बच्चा रास्ते में कस्बे की एक दूकान की ओर देखकर मचल उठा।

'हरामजादे चुप रह।' काशी ने उसे घूरते हुए कहा। रधिया अण्टी से पैसा निकाल रही थी, उसका हाथ रुक गया।

मुन्नी अब तक चुपचाप अपनी माँ की छाती से चिपकी सोयी हुई थी। रात-भर से उसकी तबीयत खराब थी। उसे बुखार था। रधिया बहुत थक गयी। उसने मुन्नी को अपनी संगिन को देना चाहा, लेकिन मुन्नी चुपचाप पूरी नींद न जाने कब सो चुकी थी। उसकी आँखें मुंदी ही रही, जैसे कि अब नहीं खुलेंगी।

सबने सावधानी से मुन्नी को देखा। 'हा भाग !' कह रधिया फूट-फूट कर रोने लगी।

चोखे ने मुन्नी को उठाया। पास जंगल की ओर ले जाकर, एक गड्ढे में गाड़ दिया। उसकी आँखों से टप-टप-टप आँसू की बूँदें टपकीं। वह फिर लौट आया।

रधिया ठगी-सी खड़ी थी। उससे पूछा, 'मेरी मुन्नी को हाय अकेली छोड़ आये हो ?'

चोखे क्या समझता। साँझ हो आयी थी अभी शहर बहुत दूर था। मुन्नी का सारा लोभ बिसार कर वे सब आगे बढ़ गये। उनका अपना सब विश्वास उस शहर पर केन्द्रित था कि वहाँ नौकरी मिलेगी।

रधिया चौंकी, उसकी सास उठ खड़ी हुई थी, वह सारा स्वप्न मिट गया। उसकी सास ने अपना फटा कम्बल संभाला, पुराने टूटे जूते पहने और बोली, "मैं काशी को बुला लाती हूँ। वह लड़-झगड कर चला गया है।"

बुढ़िया सन्निपात की हालत में ही बाहर चली गयी। रधिया तो असहाय पड़ी थी। उसका दिल घबरा रहा था। कभी तो एकाएक ख्याल आता, मुन्नी हृदय में बंदरिया की बच्ची-सी चिपकी है। लेकिन वह तो दिन में मर गयी थी। सब झूठ था। उसका बच्चा चुपचाप फर्स पर सो रहा था। रधिया की कमर दुख रही थी। हाथ-पाँव फूल गये............।

एक-एक कर पिछली बातें याद आयीं। मेले से लौटकर काशी ने उसे बचाया था। फिर दोनों की शादी हुई। उनके दिन पहले कितने सुख से बीतते थे। कभी झगड़ा होता तो, फिर समझौता भी। उनकी गृहस्थी हर तरह ठीक चलती थी।

और आज । एक नये शहर की धर्मशाला में वह पड़ी हुई है । काशी न जाने कहाँ शहर में भटक रहा होगा । उसके समीप कोई नहीं है । वह असहाय और अकेली है । दिन-भर के लम्बे सफर के बाद यही आखिर उसे देखना बदा रहा होगा ।

"ओ मां !" उसका सारा शरीर दुख रहा था । अभी एक घण्टा पहले ही काशी लात-घूँसों से उसकी मरम्मत करके चला गया है । वह घटना !

वह किसके लिए पैसे संभाल, बचा करके रखती है । क्या काशी से पैसे छुपा कर रखना अपराध है । काशो ने पैसे माँगे थे, चुपचाप दे देती । वह दारू पिये, चाहे जुआ खेले, उसे कुछ मतलब नहीं है । वह बेहोश हो गयी थी । उसकी तबीयत न जाने क्यों खराब हुई । चोखे कम्पाउण्डर को बुला कर ले आया । कम्पाउण्डर ने दवा लिख कर चोखे को अस्पताल भेज दिया । काशी बाजार का चक्कर लगा, लौटा था । उसे भूख लगी थी । आकर चिल्लाया, "खाना लाओ ?"

उसकी माँ बोली, "आज खाना कहाँ बना है । बाजार में खा लेना ।"

"मुझे खाना दो ।" काशी फिर चिल्लाया ।

काशी के गुस्से को रधिया पहचानती थी । वह एक दिन बेकारों की सभा में सारे शहर की मिलों को उजाड़ने की कसम खा चुका था । उसी वक्त वह एक मिल के पास खड़ा होकर ईंटें उखाड़ रहा था, जैसे कि सारी मिल को नेस्तनाबूद करने की ताकत उसमें हो । वह अपनी धुन का पक्का व्यक्ति है, उस दिन पुलीस वालों ने उसे पकड़, कुछ बेत लगा कर छोड़ दिया । उसने नशे में कसमें खायी थी कि वह एक दिन सब पुलिस-मैनों के गले घोंटेगा । नशे में वह आपे में नहीं रहता है ।

रधिया ने अपनी अण्टी से चवन्नी निकाल कर फेंकते हुए कहा था, "बाजार से खा लेना । मेरी तबियत ठीक नहीं है ।"

"हरामजादी, बदमाश, झूठ बोलती है, चार आने ! निकाल रुपया ।" काशी ने चार लातें जमायीं । रधिया उठी और फिर लड़खड़ा कर धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ी ।

कम्पाउण्डर को गुस्सा चढ़ा । उसने काशी की गरदन पकड़कर चाँटे जड़े

हुए कहा, "नालायक के बच्चे। वह खुद ही मर रही है तुझे नशे में कुछ होश भी है।"

"मरने दो!" काशी खीसें निकालकर हँस पड़ा। नाचने लगा, मर जायेगी—मर जायेगी। फिर चुपचाप उसने रधिया की अँटिया से रुपया निकाला और यह कहकर कि "तुम अपनी माशूका को बचा लो।" बाहर निकल गया।

रधिया को जरा होश आया। वह काँप उठी, काशी यह कैसा कलङ्क लगा गया था। उफ! यह भी सुनना बदा होगा। वह उठने की निरर्थक चेष्टा करने लगी। कम्पाउण्डर बोला, "लेटी रहो।"

लेकिन रधिया पगली-सी बोली, "तुम यहाँ से चले जाओ।" फिर फर्श पर गिर पड़ी। कम्पाउण्डर ने जब यह हाल देखा, तो उसे मौत के आश्रय में सौंप कर वह चुपचाप चला गया।

अब वह चौंकी। वह पैसे किसके लिए बचाती है। उसका सुख क्या है? काशी उसका पति है। वह चाहे कुछ हो, दोनों एक हैं। उसने पैसे माँगे थे तो वह देती। वह चाहे शराब पिये, चाहे कुछ। उसी की कमाई के पैसे हैं। वह शराब ठीक तो पीता है। वह बहुत परेशान जो रहता है।

अब तो वह बुढ़िया चली गयी थी। उस अँधेरी कोठरी में रधिया चुपचाप लेटी रही। बच्चा बहुत पहले भूख से सिसक-सिसक कर रोता, थका-माँदा सो गया था। वह फिर सोचने लगी कि काशी कहाँ होगा? किसी शराब की दूकान के बाहर पड़ा होगा। वह उसे ढूँढने जायगी वह हिम्मत कर उठी पर सब बेकार। फिर उसी तरह लेट गयी। एकाएक उस भारी अन्धकार में उसने अपनी माँ की आवाज सुनी, मानो वह उसे पुकार रही हो। क्या उसकी माँ स्वर्ग से उसे अपने साथ लेने आयी है। वह नहीं जायगी। उसका बच्चा है। उसकी परवाह कौन करेगा? बिना माँ के बच्चों की देखभाल ठीक-ठीक नहीं होती है। लेकिन उसने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा, सच ही उसकी माँ दरवाजे पर खड़ी उसे अपनी ओर इशारे से बुला रही थी।

"नहीं माँ! नहीं-नहीं, मैं नहीं आऊंगी।" वह जोर से चिल्लायी। वह शब्द उस अन्धकार में विलीन हो गया।

फिर चारों ओर वही सुनसान! वह काशी कहाँ होगा। कल वह उससे कहेगी,—काशी, अब तो तुमने दुनिया की लाज-शरम खो दी है। लोगों को तो देखा करो। इस तरह हम कै दिन चलेंगे।

माँ-माँ-माँ······! वह मुन्नी रो रही थी। मुन्नी सच ही उसकी छाती से चिपटी रही।

माँ-माँ-माँ ·····!! वह मुन्नी ही थी। मुन्नी कहाँ रही तू। लौट आयी······

फिर लगा कि लोग गड्ढा खोद रहे हैं। उसे गाड़ रहे हैं। ओफ!

वह काशी न जाने क्यों चला गया। बुढ़िया कहाँ होगी। चोखे अभी तक लौट कर नहीं आया था। रधिया बेहोश हो गयी।

चारों ओर घना अन्धकार था। इसी लिए वह सम्भव घटना छुपी-सी रही।

बड़ी रात गये चोखे आया। आकर पुकारा, "भाभी! भाभी!!"

कुछ न सुन कहता रहा, "ओ, भाभी, तूने बुढ़िया को क्यों जाने दिया। वह मोटर से दब कर मर गयी है।"

लेकिन उसकी बात कौन सुने? रधिया को अब यह सब सुन लेने की फुर्सत नहीं थी। शायद उसमें सुनने की सामर्थ्य होती? वह अब उससे परी थी। रोज की झन्झटों से अनायास आज छुटकारा मिल चुका था।

अब घोर अंधियारा था। चोखे ने अपनी जेब टटोली। दियासलाई नहीं मिली। वह कोठरी में इधर-उधर ढूंढ़ने लगा। तभी एक कोने में सिकुड़ी रधिया मिली। वह उसे हिलाता हुआ बोला, "भाभी! भाभी!!"

भाभी उठ सकती, उठती। उठ कर सारी दुनिया की फिक्र बटोर लेती।

"माँ—माँ!" बच्चा, हड़बड़ाता उठ कर पुकारने लगा।

रधिया के आगे तो अब बच्चे के उठने और भूखे रहने का सवाल ही नहीं उठ सकता था।

"माँ भूख लगी है।" बच्चा बोला।

"चुप रह अभागे। "चोखे बोला।"

बच्चे की समझ में बात नहीं आयी। वह रोने लगा।

उस अन्धकार में चौखे की आँखों से टप-टप-टप आँसू की बूंदें टपक पड़ीं। वे आँसू की बूंदें रधिया का मुंह धो रही थीं।

वह सिसक-सिसक कर रो रहा था। अब बच्चा भी रोने लगा।

दूसरे दिन सुबह पुलीस ने काशी को मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया। वह शराब के नशे में चूर, एक मिल की दीवार से ईंट निकाल रहा था। चौकीदार के मना करने पर उसने उस पर हमला किया।

मजिस्ट्रेट ने कानून की दफा की सच्चाई बरतने के लिए सही सबूत पाकर उसे इस जुर्म में सिर्फ पांच साल की सजा और सौ रुपया जुर्माना किया।

रधिया की बाकी कहानी अब पाँच साल बाद काशी लौट कर सुनायेगा। वह जेल में काम करते-करते वादा करता है कि अब कभी रधिया को नहीं मारेगा।

पाँच साल का लम्बा अरसा वह रधिया की याद में व्यतीत कर रहा है।

खेल

"मैं जल्दी ही मर जाऊँगा। मौत मुझ पर फन्दा डाल चुकी है।" वह बूढ़ा धीमे स्वर में बोला। कहता ही रहा, "एक बात की गाँठ मन में पड़ी थी। अब उसे खोल कर चैन से मरूंगा। तुमने आकर मुझे उबार लिया हैं।"

सुबोध ने देखा—मैली गली के भीतर, एक जीर्ण पुराने मकान के धूल-भरे फर्श पर लेटा हुआ, वह बूढ़ा जीवन का आखिरी वक्त पूरा कर रहा था। न पानी बरसना शुरू होता, न उसे यह आश्रय लेना पड़ता। बरसात का मेह अभी रुकता भी नजर नहीं पड़ता था। भीतर कमरे से कराहने का स्वर सुनकर वह भीतर गया, तो पाया उस असहाय व्यक्ति को।

कमरे से बदबू उठ रही थी। बार-बार एक भारी डर वहाँ लगने लगा तो वह बूढ़ा बोला, "डर गये। सुनो! सुनो!!"

सुबोध ने टार्च की सफेद रोशनी में देखा—लम्बी दाढ़ी, सफेद बाल और ढांचे मात्र में सीमित नरकंकाल। उसकी अन्तरात्मा कांप उठी। सारे शरीर में एक अज्ञात भय फैल गया। वह बूढ़ा, मौत, बाहर पानी की लगी झड़ी—सारा वातावरण अजीब सा लग रहा था।

और बूढ़ा तो बोला "बैठ जाओ।"

सुबोध कहां बैठे? वह गन्दा कमरा। मिचली आने लगी, फिर भी छुटकारा नहीं था।

"तुम डरते हो मर्द होकर।" बूढ़े ने तेज आवाज में कहा, "जाना चाहते हो, भाग जाओ। नहीं..., नहीं...।" बूढ़े का गला भर आया। गहरी निराशा ने जैसे कि उसे घेर लिया हो।

साहस बटोर कर सुबोध बोला, "लो मैं मोढ़े पर बैठ जाता हूँ। अब तुम क्या कहना चाहते हो?"

बस वह बूढ़ा कहकहा मार कर भीषण हंसी हँस कर बोला, "तुमने एक ईमानदार आदमी जैसा व्यवहार किया है। भगवान तुमको इसका बदला देगा।" चुप हो गया।

कमरे में सन्नाटा था। सुबोध और बूढ़े के अलावा वहाँ कोई नहीं था।

सुबोध उस शहर में घूम-घाम करने आया है। अपने जीवन में वह दुनिया भर घूम लेना चाहता है। जीवन का बहुत बड़ा हिसाब रखना उसे पसन्द नहीं है! कहीं डेरा डाल कर थम जाता है। आज शहर के होटल में पड़ा है। सात-आठ दिन वहाँ रह कर उस शहर को छोड़ देगा। फिर कहाँ जायेगा, कुछ निश्चित नहीं है। वह इसे झंझट मानता है। इसीलिए ज्यादा फिक्र नहीं करता। अपने में मस्त रहने वाला जीव है। कोई ऐसा शहर नहीं जहां उसके दोस्त न हों। कल सांझ को अचानक विपिन ने पहचान कर आश्चर्य प्रकट किया था। आज वह उसी के यहां 'डिनर' पर गया था।

संध्या को खा-पीकर वह अपने दोस्त के साथ घूमने निकला। एकाएक सफेद घोड़े वाला एक सुन्दर तांगा टप-टप टप-टप करता हुआ बढ़ गया।

"तुमने नहीं देखा, जानबूझ कर उसने अपने सिर की साड़ी को गिरा दिया है।" हंसते हुए विपिन बोला।

"कुछ हो, हवा में उड़ते बालों से उसका सौन्दर्य और निखर आया है।"

"तो यों न कहो कि साइकिल आगे बढ़ायी जायं।"

भारी कौतूहल वश सुबोध साइकल तेज चलाने लगा। तांगे में बैठी वह युवती खूब जंचती थी। वह बहुत खिली और सुन्दर लगी। उसे देखकर तृष्णा बढ़ जाती। दिल गवाही देने के लिये तैयार हो जाता था।

"तुम इसे जानते हो।" सुबोध बोला।

"उतना ही जितना कि शायद तुम।"

"मैं! कौन है वह?"

"शहर की नामी वेश्या।"

"वेश्या! तब चलो लौट चलें।"

"यह भी खूब रही। पहले यथार्थवादी और जरा देर में आदर्शवाद का मजहब अपना रहे हो। कोई वह हमें डस तो नहीं लेगी।"

"कुछ हो, लौट चलो। मेरा आगे जाने को मन नहीं करता है।"

तभी वह ताँगा बाग के फाटक के भीतर पहुँच कर ओझल हो गया था।

विपिन को उसके बंगले में छोड़ कर सुबोध अकेला लौट आया। उसके दिमाग में बात घूम रही थीं कि वह वेश्या थी। मजे में वह साइकिल चला रहा था कि एकाएक मेह आ गया। बस वह अंधियारे में भीगता हुआ आश्रय लेने उस मकान के बाहर खड़ा हुआ।

बूढ़े ने कहना शुरू किया, "यह बिलकुल सच बात है। इसे कहानी न समझना। तुम जवान हो; वह भी जवान था। तुम सुन्दर हो, वह भी सुन्दर था। तुम्हारी ही तरह वह भोला और खरा था। उसका दिल था। लेकिन वह साधारण इनसान की तरह कोमल था। उसने अभी दुनियादारी नहीं

सीखी थी। वह आदमी की सही पहचान नहीं जानता था। वह जीवन के सही खेल से वाकिफ नहीं था।"

एक दिन यूनिवर्सिटी से जल्दी लौट कर आया। बोला, "माधो मेरे लिये खाना न बनाना। मैं नुमायश जा रहा हूँ। वहीं खा लूंगा। कुछ रुपये देना।"

माधो घर का नौकर था। देहात से साथ आया था।

बड़ी रात लौट कर वह बोला, "माधो बड़ी गरमी है।"

देखा था माधो ने कि वह शराब के नशे में चूर है। वह अलगंल बोलता रहा, "आज गलती हो गयी। तू जानता है मैं पीता नहीं हूँ। दोस्त नहीं माने। आज माधो मैंने एक सुन्दर खूबसूरत लड़की देखी है। अपने छोटे भाई के साथ नुमायश में घूमती थी। जारजेट की नीली-नीली साड़ी, लम्बा मुंह, और......।"

माधो चुप रहा।

"माधो पानी पिलाना।" वह फिर बोला। माधो ने सुराही से पानी उड़ेल कर दे दिया।

"नहीं-नहीं, बड़ी गरमी है। बरफ का पानी।"

माधो ने पानी पिलाया। कुछ देर बाद पूछा, "कपड़े नहीं उतारियेगा।" देखा कि वह चुपचाप सो रहा है।

दूसरे दिन सुबह उठकर वह बोला, "आज चाय नहीं पियूँगा। सिर में बड़ी पीड़ा हो रही है, लस्सी बनाना।"

माधो ने कांच के गिलास में लस्सी मेज पर रख दी। उसने सारा गिलास पीकर कहा, "कल रात की बात माफ कर देना माधो।"

माधो से माफी मांगने का यह पहला मौका नहीं था। बचपन से आज तक कई बार यह बात दुहरायी जा चुकी है।

सांझ को वह फिर बोला, "कुछ रुपये और देना माधो।"

"कहाँ जाओगे?"

"चुप, बीच में ही टोक दिया।"

उस दिन फिर वह नुमायश चला गया। लेकिन जिस चीज की तलाश थी। वह नहीं मिली।

वह नुमायश वाली युवती उसे परेशान करती रही। वह नहीं जानता था कि वह कौन है और कहां रहती है। न जाने उसका क्या नाम होगा। जब वह पढ़ता-पढ़ता थक जाता, तो एकाएक उस रमणी की रूप-रेखा फैला कर उससे उलझ जाता। वह खाली वक्त काटने का बड़ा सहारा था। उस युवती के लिये न जाने क्यों वह परेशान हो रहा था। बार-बार वह उसको भूल जाने की चेष्टा करता पर सफल नहीं होता था। तब वह सोचता कि वह उस युवती के प्रेम करने लग गया है। उसे उस प्रेम से तसल्ली नहीं थी। वह प्रेम धीरे-धीरे दिल में घाव बना कर अब पीड़ा पहुँचाने लग गया था।

एक दिन फक्कड़ दोस्तों ने फिर घेर लिया। सब ने जोर दिया कि गाना सुनने चला जायेगा। वह अपनी 'अज्ञेय' रमणी का भार संभाल कर फिर कहीं नहीं जाना चाहता था। पर दोस्त नहीं माने। वह मजबूर हो गया। उनके साथ चुपचाप चलने लगा। चौरस्ते के पास पीपल का पेड़, उसी से लगा एक बड़ा मकान। उसी के दो मंजिले में कोई युवती सुन्दर गाना गा रही थी। सब लोग ऊपर चढ़ गये। वह सब से पीछे था। एक-एक सीढ़ी चढ़ते उसके हृदय में कोई अज्ञात भय बैठ रहा था। वह इस तरह क्यों जा रहा था। कहाँ आखिर जावेगा। वे लोग यह सब कैसा खेल खेलने पर तुले हैं! इस खिलवाड़ के भीतर...।

अब वह ऊपर दालान पर खड़ा था। वहीं एक रमणी थी। वह उसे पहचानते नहीं चूका। वह उसी को तो आज तक ढूंढ़ रहा था। वह अजब पोशाक में थी। उसका सारा उत्साह फीका पड़ गया। उसकी सारी उम्मीदों वाली नारी क्या यही वेश्या है। क्या इसी के लिये वह परेशान था। उसकी आशा मुरझा गयी वह वहाँ से भाग जाना चाहता था, पर क्या करता। वह लाचार था।

गाना शुरू हुआ। देखा कि वह खूब गाती है। वह गाना बरबस हृदय में

छुपी पीड़ा अपनी ओर खींच, एक खाली जगह वहाँ कर देती है। वह रमणी बहुत प्यारी लग रही थी। बार-बार अपनी ओर खींचने की चेष्टा करती थी। कमरा बहुत बड़ा था। चारों ओर बड़ी बड़ी तसवीरें और आइने टंगे थे। सब ओर सारी सजावट चतुरता से की गयी थी।

गाना खतम हुआ। किसी ने पूछा, "आपका नाम ?"

"अलाहीजान।" वह बड़ी अदा से बोली।

"झूठ।" कुछ लोग बोले। एक कहकहा मच गया।

पान पेश हुए। वह झेंप गया। नहीं लिया, बोला, "मैं पान नहीं खाता हूँ।" एक दोस्त तभी हँस कर बोला, "औरत के हाथ का पान नहीं खाते यों कहो।"

"दूकान से मँगवा लेती हूँ।" वह बोली।

और दूसरा दोस्त बोला, "आप खिलाने की कोशिश तो कीजिये। भला वह क्या इनकार कर सकेंगे ?"

"किसी को मजबूर करने से क्या फायदा होगा।" वह बोली।

उस साँझ भर वह बहुत उलझा रहा। तो वह जिसके लिये इतना परेशान रहा, वह एक वेश्या है, जिस पर समाज ने एक मुहर लगा रखी है। तो क्या वह अब भी उस आदर्श की पूजा कर, उसे प्यार करेगा। क्या वह नारी सब के प्यार के लिये नहीं है। वह क्यों उसमें उलझना चाहता है। वह झूठी नारी है। जहाँ जीवन सरल नहीं, सब कुछ बनावटी है। वह चैतन्य पुरुष है। समझदार व्यक्ति है।

फिर भी अपने झगड़े का निपटारा वह नहीं कर सका। एक दिन उसने टूटी भाषा में एक उलझा पत्र लिखा।

"तू-तू है—और मैं-मैं। न तुझे तेरी जरूरत है, न मुझे मेरी। हर एक अपनी, अलग-अलग की गिनती में हैं। हमें अपने-अपने दायरे लाँघने की मनाही है। तू कुछ सोचती होगी, मैं अपने पर अधिक नहीं सोचा करता हूँ। तुझे अपनी परवा करने का वक्त नहीं मिलता है और मैं बिलकुल खाली रहता हूँ। जीवन एक समस्या है। एक जंजाल है।"

और उसने न जाने क्या-क्या लिखा। वह खुद अपनी लिखी भाषा नहीं समझ सका। दिल कुछ लिखने तुला और उसने वही सब लिखा। बड़ी देर तक कुछ न कुछ लिख कर उसने खत डाक में छुड़वा दिया। अब उसे एक सुलझी सान्त्वना मिली। जैसे कि जीवन में एक बड़ी बाजी जीत गया हो।

कुछ दिन कटे। जवाब नहीं मिला। वह परेशान हो उठा। सोचा कि यह क्या हो गया है। क्या वह इतनी निठुर है। वह अपनी भावुकता में बहा। कलम उठायी। लिखा :

"सुबह उठा, चाय पी। एक सिगरेट सुलगा ली। उसके धुंए और राख से बड़ी देर तक खेलता रहा। लोग कहते हैं कि सिगरेट पीना बुरी बात है। वह मतलब सा साध्य नहीं। फिर भी साध्य का निपटारा हो जाता है। वह असाध्य तो नहीं है।

"संध्या को अकेला ही घूमने निकला। अंधियारा फैल रहा था। सड़क के पास पुलिया पर बैठा। सोचने लगा कि दिन भी ऐसे ही कट जाते हैं।

"हम लोगों की जिन्दगी रोजाना अखबार की तरह है, जिसे कि सुबह पढ़ कर हम बासी को फेंक देते हैं। हम उसी रद्दी की तरह हैं।

"हर एक व्यक्ति एक साथी ढूंढ़ लेना चाहता है, ताकि वक्त पर काम आये। उसे अपने विचार जीवन की परिभाषा और अपना सा बनाने की तबियत होती है। मैं निपट अकेला हूँ। मेरे पास कोई सगा दोस्त नहीं। इसी लिये तुझे चिट्ठी लिख कर तसल्ली कर लिया करता हूँ।

मनुष्य दिन भर में हजारों बात सोचता है। जो कागज पर लिखी अच्छी लगती है, वही मैं तुझे सौंपता हूँ। वह एक मेरी अपनी तसल्ली है।

"मैं कब तक लिखूँगा, कुछ नहीं जानता। तेरी साड़ी से अपनी प्यास बुझा लेने की चाहना मुझे नहीं है। मेरी प्यास मेरे शरीर में नहीं। लेकिन मेरी आत्मा में कुछ खोया सा लगता है। वैसे हम सब भावनाओं के पुतले हैं।"

फिर भी जवाब नहीं मिला। वह अपने मन में झुंझला उठता था। उसे

उम्मीद रहती कि वह जरूर जवाब देगी। जैसे कि उसके हृदय की भावना के प्रति उदारता बरतना उसका कर्त्तव्य हो, लेकिन उसकी बात झूठ निकली। तब एक दिन गुस्से में उसने पत्र लिखा :

"तुम वेश्या हो, दुनिया को ठगती हो। इतना शृंगार, वह वेश भूषा और 'लिप-स्टिक' की आड़ में मुस्कराते हुए ओंठ! उनसे एक अजीब बनावटीपन टपकता है। क्यों तुम अपने को धोखा देती हो। यह जरूरी नहीं है। यह तुम्हारे पेशे की सत्यता···।

फिर भी उसे पत्र नहीं मिला। उसकी भावुकता उस नारी के जीवन को छूने में असफल रही। उसकी धारणा गलत साबित हुई। पर वह मजबूर था। लिखता, लिखता :

"तुम क्या सोचती हो? कुछ नहीं न, ठीक तुमको कुछ भी सोच लेने का वक्त नहीं मिलता है। फुरसत नहीं होगी। अपने जीवन के प्यार और पुचकार के बीच तुम सिर्फ एक खिलौना हो।

जितना ही वह लिखता था, उसकी परेशानी बढ़ती जाती थी। वह युवती उस पर अपना पूरा प्रभाव डाल चुकी थी। एक दिन वह वहाँ गया। वह कुछ लोगों से ठठोली करती मिली। घर लौट कर उसे बहुत बुरा लगा। बिस्तर पर लेटा। चैन फिर भी नहीं पड़ा। निराशा आगे खेलती। दुःख, पीड़ा और वेदना आगे मुसकराती। एक ईर्षा मन में थी। वह सोचता, उसका कोई प्रेमी नहीं है, एक, दो, तीन, चार·······। तो उसके मन के माफिक प्रेमिका वह नहीं है। वह चाहे क्या वह उसके मन की प्रतिमा नहीं बन सकती है। कोई तर्क सफल नहीं हुआ। उसे जितना ही भूलाना चाहता, उतनी ही उसे देखने की भूख बढ़ती जाती थी। अपनी मजबूरी में वह लाचार साबित होता था।

एक प्रेमी, दो प्रेमी, तीन प्रेमी·········। अपने को वह उन प्रेमियों की लिस्ट से बाहर गिनता था। प्रेम, सौन्दर्य, तृष्णा, घृणा····· ···। वह उसे अलग नहीं हटा सकता था। उसका शक अनायास ही कभी शंका जरूर बन जाता। वह अपने को उसी दायरे में पाता था।

"तब लगा, जहाँ तुम रहती हो गलत है। नहीं, नहीं, नहीं........। तुमको क्यों कोसूं। तुम्हारा यही धन्धा है। तुम सही हो।

कई महीने इसी खिंचाव में बीत गये। वह जितना ही उसके समीप पहुँचना चाहता, वह दूर हट जाती और वह उलझ जाता था। वह तो दूर-दूर भाग जाती थी। वह दाँव चलता, तो वह खेल खेलती थी। कहीं अपने को पकड़ में नहीं आने देती थी।

एक दिन वह बोली, "तुम पागल हो गये हो।"

उसने उसकी ओर देखा। बात समझ में नहीं आयी थी।

वह फिर बोली, "आप क्यों रोज चिठ्ठी भेजकर परेशान किया करते हैं। मैं ने वे सब फाड़ डाली हैं। आगे अब बिना पढ़े ही फाड़ दूँगी।"

वह उठ खड़ा हुआ। दस-दस रुपये के दो नोट सौंपता बोला, "लो," और मन ही मन झुंझला कर बाहर चला आया।

घर लौटकर बोला, "माधो, दुनिया झूठी है। छली है। फरेबी है। तू ही इतना सच्चा क्यों है?"

दिल आखिर दिल ही है। कहा न वह बहुत भावुक था। दुनिया को अपनी ही कसौटी से परखता था। अपने को ही सही समझता था। अपने दृष्टिकोण से बाहर किसी की दलील उसको स्वीकार नहीं थी।

एक दिन रात को लौटकर बोला, "माधो।"

"क्या है बाबू?"

"सुन न, आज वह गा रही थी। मैं ऊपर पहुँचा। बाहर दालान में रोशनी थी। अन्दर वह कमरे के अंधकार में गा रही थी। वहाँ और भी लोग बैठे हुए थे। मैं ने एक रुपया निकाला। वह उठी, मुझे सलाम किया और रुपया ले लिया। मैं लौट आया। बोल मैं कितना बहादुर हूँ।"

सब सुन और समझ कर माधो ने जवाब दिया, "बाबू देहात चलें। महीने की छुट्टी ले लो। तुम्हारी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं है?"

"नहीं माधो मैं यहीं रहूँगा। उसे देख कर एक भारी तसल्ली होती है।

वह मेरा सुख है। तू देखता है न रोज-रोज वहाँ कब जाता हूँ। तू नहीं चाहता है, तो नहीं जाया करूंगा।"

माधो कुछ नहीं बोला। वह मना नहीं कर सका। कुछ सुझाने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी।

लापरवाही और अव्यवस्थित उच्छृंखल जीवन से वह बीमार पड़ गया। यूनिवर्सिटी वालों ने उसे मेडिकल कालेज में दाखिल करा दिया। डाक्टर कहते, "टाइफाइड है, जल्दी ठीक हो जायेगा।"

वह तो कहता था, "माधो मुझे मरना है। तू उसे बुला ला। नहीं ले, मैं चिट्ठी लिखकर देता हूँ।"

और चिट्ठी लिखी।

"प्या--री"

फिर वह फाड़ डाली। यह बेकार बात लगती थी। माधो कहता, "सो जाओ बाबू, सांझ को उसे लाऊंगा।"

माधो किसी तरह अपनी सहानुभूति बरतता था।

एक दिन अनायास वह बोला, "माधो तू झूठा है। तू मेरी मौत देखना चाहता है। तू जा वह जरूर आयगी। वह भी तो दिल रखती है।"

उस दिन माधो खूब रोया। ताँगे पर उसके यहाँ गया। वह बोली, "कोई मैंने दुनिया भर के मरीजों को जिला लेने का ठेका थोड़े ही लिया है।"

माधो आकर बोला, "एक मुजरे में गई है। परसो तक लौट आयेगी।"

तीसरे दिन वह बोला "अब तू जा माधो। उससे सारी बातें कह, बुला लाना।"

माधो चौक गया। देखा नीचे मोटर खड़ी थी। ऊपर पहुँचा। नौकर ने दुतकारा। वह चुपचाप लौट आया।

उसे लौट कर कुछ भी जवाब नहीं सूझा। घबड़ा कर बोला, "वह अपने दोस्त के साथ बैठी थी।"

और उसने एक गहरी साँस खींची। चौथे दिन वह अन्तिम साँस ले रहा था। एकाएक नर्स का चेहरा फीका पड़ गया। माधो खिड़की के पास बुत सा खड़ा था। खड़ा ही रहा। तभी उसने आवाज सुनी; टप ! टप !!

देखा बाहर सड़क पर, सफेद घोड़ा, बढ़िया ताँगा और वह बैठी किसी दोस्त के साथ घूमने जा रही थी।

सुबोध ने कौतुहल से पूछा "फिर…?"

बूढ़ा चुप!

उसने टार्च की रोशनी में देखा कि बूढ़ा मर गया था।

वह उठा, बाहर निकला और उस मेह की झड़ी में ही साइकल चलाने लगा।

——

तमाशा

"जीजी।"

"क्या है सत्या?"

"जीजी, जीजी!"

सुशीला उठी, देखा कि सत्या चुपचाप गहरी नींद में बड़बड़ा रही थी। भादों की अंधियारी रात। बाहर लगातार कई दिनों से पानी बरस रहा था। बड़ी रात गुजर चुकी थी। वह सत्या के पलंग पर बैठ गयी। फर्श पर नीचे नौकरानी सो रही थी। उस सोयी सत्या ने न जाने क्या स्वप्न देखा था कि सुशीला को नींद में पुकारने की जरूरत पड़ गयी। यह सत्या एक अरसे से बीमार है, सुशीला को चैन नहीं। वह उस सत्या को देखती रह गई। उसे तो डर था कि कहीं एकाएक कच्चे सूत के तागे की तरह टूट न जावे। मनबुझाव कर सोती थी कि यह किसी दिन सत्य नहीं होगा। सत्या घुल रही थी। अब उसके शरीर पर कोई तत्व बाकी नहीं रह गया है। आँखें घुस चुकी हैं। शरीर निर्बल है। कभी भी चटक जावे, सन्देह इसमें नहीं है।

सुशीला बोली, "सत्या !"

"हां जीजी।" सत्या ने आंखें खोल ली थीं।

"अब जी कैसा है ?"

"अच्छी हूँ मैं।"

"तू तो बड़बड़ा रही थी।"

"मैं !" सत्या उलझन में बोली।

"क्यों, क्या बात है ?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं जीजी !"

"तब जरूर कुछ बात है।" सुशीला हल्के मुस्करायी। अब व्यवस्थित रोग व रोगी के वातावरण के भीतर कभी-कभी हंसी-मजाक चलता है। इसे अपने से अलग कोई हटाना नहीं चाहता है।

"हाँ, हे-हे ! बतलाऊँगी थोड़े ही।" सत्या गम्भीर हो गयी।

"जाने दे, पूछता कौन है ?" सरलता से सुशीला बोली।

"गुस्सा हो गयी जीजी ?"

"नहीं सत्या !" कहकर, सुशीला ने सत्या को चूम लिया। सत्या खिल खिला उठी।

और सत्या बोली, "मैंने एक सपना देखा था।"

"सपना !"

"सुनेगी न।"

"हाँ।"

सत्या तब बोली, "जीजी, मैं गोल कमरे में बैठी पढ़ रही थी, तभी एक लड़का आकर बोला, 'चलेगी सत्या ?'

"उस लड़के को आज तक मैंने कभी नहीं देखा था। बड़ा सुन्दर था वह और उसकी आंखों के प्रभाव में मैं आ गयी, ना नहीं किया। उसके साथ हो ली। हम दोनों बड़ी दूर तक साथ-साथ गये। उसने एक कमरे का दरवाजा खोला। बहुत ही सजा हुआ कमरा था। वह बोला, 'बैठ जाओ।'

'मैं बैठ गयी थी।'

'तुम जानती हो, मैं क्या करता हूं।'

"नहीं,' मैं बोली।

'मिट्टी के खिलौने बनाता हूँ। तुम्हारा एक ढांचा बनाऊँगा। बैठी रहो।'

"वह दूसरे कमरे में चला गया। कुछ देर बाद मैंने देखा कि मेज पर बैठ कर वह मुझे देख रहा है। बड़ी देर के बाद उसने मुझे एक खिलौना दिखलाया। मैं आश्चर्य में पड़ गयी। वह हूबहू मुझ जैसा था। वह फिर बोला, 'अब तुम जाओ,।' दरवाजे तक मुझे पहुँचाया और सड़क में कर दरवाजा बन्द कर दिया। मैं अकेले घबड़ा गयी, तभी तुझे पुकारा था।

"खिलौना तूने नहीं मांगा," सुशीला ने पूछा।

"माँगना चाहती थी, मांग नहीं सकी।"

"ऐसी क्या बात थी।"

"उसके आगे मेरी कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी।"

"क्यों?"

"मुझे लगा कि मैं उससे प्रेम करने लग गयी हूँ। मैं जाहिर नहीं करना चाहती थी, इसी लिये नहीं मांगा! वही तो मेरी यादगार उसके पास बची है।"

किन्तु वह सत्या तो आज सुशीला के नजदीक नहीं है। वह बात अब कई साल पुरानी हो गयी। इसके बाद दुनियां बदलती चली गई। अब सुशीला जान गयी है कि इस दुनिया के भीतर कुछ नहीं। उसके हृदय में आजकल एक नया सुख भर रहा है। वह जानती है कि वह अब माँ बनेगी। बस खुद ही अपने दुलार में फूली नहीं समाती है। सोचती है कि 'बेबी' छोटा होगा—छोटे-छोटे कान, छोटी-छोटी आँखें। अपने में ही गणना करती, हँसती रहती है। वह खुश है, लापरवा है, कहीं कोई चिन्ता उसे नहीं घेरती है। पति है, गृहस्थी—सारा जीवन सुचारु रूप से चल रहा है। कहीं जरा कठिनता नहीं। सरलता से सब निभ जाता है। इतना सब पाकर चिन्ता कभी नहीं घेरती है। कहीं दुःख नहीं, पीड़ा नहीं। पिछले सारे जीवन को पति

ने आज ऐसे ढक लिया है कि उसे कहीं कुछ सोचने का मौका नहीं मिलता है।

फिर भी जीवन में सुख हो सब कुछ नहीं है। पिछली घटनायें कभी-कभी अवसर पाकर खुद ही फूट निकलती हैं। वैसे ही घनी बरसात है। पति दौरे पर चले गये हैं। अकेले उसका दिल नहीं लगता। कहाँ तक वह अकेली रहे। सारे कमरे को कभी-कभी कुहरा घेर लेता है। भारी घबराहट दिल में होती है। आस-पास दूर-दूर तक कुछ नजर नहीं पड़ता। अपने भीतर ही एक सीलन-सी भरती जा रही है। उठती है। बेकार खिड़की से बाहर देखती है। कुछ नहीं! दूर-दूर तक यही घना फैला-फैला कुहरा और वही पानी! पानी!! पानी!!! मन मार कर विस्तर पर बैठ जाती है। किताब उठाकर पढ़ना चाहती है कि दिल बहला रहे। यह तरीका काम नहीं देता है। वह नहीं जानती है कि वह परेशान क्यों हो रही है। पति आज न सही, तीन-चार दिन में लौट ही आयेंगे। फिर उसे अकेलापन महसूस नहीं होगा। लेकिन फौरेस्ट के इस बँगले के आस-पास और कोई बँगला नहीं है। जंगल के बीच नजदीक ऑफिस और क्लार्कों के क्वार्टर हैं। वहाँ उसके मन के लायक कोई नहीं। कुछ बहुत बूढ़ी हैं और अदब से शिक्षा दे जाया करती हैं। एक सुरेन्द्र की बहू है, वह बेचारी ठीक से बात नहीं करती। अभी अभी उसकी शादी हुई है। भारी लाज में उसका हर वक्त घूंघट ही लटकता रहता है। कुछ पूछो जवाब नहीं देगी। उसे यदि बुलाया जाय, बेकार ही होगा। वह इतनी सुबह आ भी तो नहीं सकती है। सुशीला ने सुरेन्द्र को कई बार देखा है। उसकी और बहू, दोनों की तुलना की है। उनके छोटे परिवार को वह हर तरह से मदद देती है। इस की एवज में सुरेन्द्र की बूढ़ी माँ अपनी मेम साहिबा का गुणगान व चर्चा इधर-उधर सुनाती फिरती हैं। यह धन्धा वह बखूबी निभाती है।

अब के पहले-पहल सुशीला पति के साथ आयी है। यह तीन महीनों के बाद पहला ही मौका है कि पति दौरे पर चले गये हैं और वह अकेली है। तभी न जाने क्यों उसके मन में बेचैनी और बेकली फैल रही है! यह तो एक छोटा-सा अवसर है। अभी उसे जिन्दगी भर इसी तरह रहना है।

नहीं, फिर वह 'बेबी' के साथ खेला करेगी। उसे इतना बुरा नहीं लगेगा। आदत पड़ जायगी। यह इतना तर्क वह स्वीकार कर लेती है। लेकिन खाली-खाली क्या करे? बरसात के मारे तो नाक में दम है। कुछ करने को तबियत नहीं चाहती। मन में उचाट है। इसी तरह कब तक मेह बरसता रहेगा! पहाड़ की बरसात का आज तक उसे इतना अनुभव नहीं था। फिर यह सफेद-सफेद कुहरा, अजीब-सी दौड़ लगाता है। कभी-कभी तो इतना घना हो जाता है कि आँखें उसे बिलकुल नहीं छेद पाती हैं। उसने खिड़की बन्द कर दी। कमरों के भीतर, कपड़ों व और चीजों पर वह जम जाता है। सारे कपड़े भीगे लगते हैं! न जाने कब आसमान साफ होगा। अब वे आवेंगे, तो वह कहेगी कि मुझे डर लगता है। दौरे में साथ-साथ चला करूँगी। या मुझे मायके भेज दो। वे समझेंगे कि मायके जाने का वह सब बहाना है। इतना स्वार्थ वह अपने ऊपर साबित नहीं होने देगी। जी कड़ा कर यहीं रहेगी—यहीं, यहीं, यहीं! लोग तो न जाने कहाँ-कहाँ रहते हैं। इस दुनिया में इससे खराब जगह हैं।

और ऐसी ही तो थी, वह बरसात :

लगातार चलती सत्या की बीमारी। सत्या बीमारी हुई थी और सुशीला अपनी उस सहेली के साथ 'हिल-स्टेशन' आयी। न सत्या के बिना सुशीला को चैन था, न सुशीला के विना सत्या को। जब सत्या बीमार पड़ी, माता-पिता के लाख मना करने पर सुशीला नहीं मानी। कालेज पढ़ने नहीं गयी थी और सत्या के पास चली आयी। अपनी उस प्यारी सत्या के आगे कालेज की पढ़ाई व्यर्थ लगती थी। फिर सत्या सुशीला से दो साल छोटी है। सुशीला को सत्या पुकारती है—जीजी, जीजी! सुशीला तो सिर्फ कहती है—सत्या!

सत्या की बीमारी बढ़ती जा रही थी। किसी की समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन सुशीला को विश्वास है कि सत्या अच्छी हो जावेगी। फिर वही पुराना व्यवहार और वर्ताव चालू होगा। उसी तरह वे साथ-साथ रहेंगी। सत्या की माँ कहती थी—सत्या को सुशीला की शादी में दहेज दे दूँगी। कौन

दूल्हा ढूँढ़ने की आफत सिर मोल ले।

सत्या कहती थी, 'चुप रह माँजो। जीजी और मैं शादी नहीं करेंगी, हम तो डॉक्टरानी बनेंगी। एक बड़ा अस्पताल खोला जावेगा। गरीबों का इलाज मुफ्त करेंगी। विलायत से पढ़ कर लौटेंगी। जीजी बनेंगी बड़ी डाक्टरनी और मैं छोटी। जीजी का हुक्म मान कर चलूँगी। अभी कल ही जीजी और मैंने हिसाब लगाया था, रुपया ज्यादा नहीं चाहिये।'

यह बात सच थी कि सुशीला डाक्टरी की उच्च शिक्षा लेने बाहर जावेगी। घर के लोग सहमत थे और जब सत्या बीमार पड़ी, डाक्टरों के कहने पर उसके घर वाले उसे पहाड़ ले जाने वाले थे। रात को सत्याने सुशीला से पूछा था, 'तुम साथ नहीं चलोगी जीजी!'

'क्यों नहीं सत्या!'

'देखो, झूठ नहीं बोलो? माँ जी कहती थीं कि तुम तो परसों कालेज जा रही हो। सब इन्तजाम ठीक हो चुका है।'

'मैं तेरे साथ चलूँगी।'

'बहका रही हो।'

'नहीं सत्या।'

'और कॉलेज!' सत्या अपनी फीकी आँखों से सुशीला को देखती रह गयी थी।

'क्या बात है?' उलझन में सुशीला ने पूछा था।

'तुम कालेज चली जाओ। मैं अच्छी हो ही जाऊँगी। तुम क्यों बेकार मेरे लिये मुसीबत झेलो।'

'सत्या!'

'क्या है जीजी?'

'तू बड़ी जल्दी 'नवरस' हो जाती है। दो-चार महीने के बाद कॉलेज चली जाऊँगी। भला सत्या के बिना मेरा मन वहाँ कैसे लगेगा? नहीं कभी भी नहीं। तुझे साथ ले लूँगी। तू प्राइवेट 'मैट्रिक' देना।'

'तब साथ चली चलो जीजी।'

और सुशीला एक दिन कालेज न जाकर, जब सत्या के साथ चली गयी, तो घरवालों को कुछ आश्चर्य नहीं हुआ था। पहले रुकावट घरवालों ने कुछ डालनी चाही थी, फिर कुछ नहीं कहा। घरवाले उस से अधिक नहीं बोला करते थे। सिर्फ पिता जी ने कहा था—अपने ही मन का होना ठीक नहीं होता है।

——अब वह गृहस्थी में है। पति है, वह बड़ा अस्पताल नहीं। न सुशीला डाक्टरानी ही बनी। वह सारी ख्वाहिश मिट गयी थी। सत्या ने साथ नहीं दिया। आज तो वह अपने पति के साथ रहती है। वहीं रहना सीख कर मन में मैल जमा करने की आदी नहीं रह गयी है। इतना ज्ञान अब है कि जीवन में घटनायें हैं, परिस्थितियाँ हैं और मजबूरियां हैं। जो कि कठोर सत्य है, और कभी मिथ्या नहीं जातीं। शादी के बारे में उसने अपनी निजी कोई राय नहीं दी थी। जब शादी हो गयी, उसने कहीं कुछ इनकार नहीं किया। अपना कोई मान, आदर, घमण्ड जैसे कि बाकी नहीं रह गया था। वह इतनी कमजोर हो गयी थी कि उसे अपनी नारी कोमलता पर विश्वास नहीं रह गया। वह जीवन में सहज ज्ञान के भीतर, अपना किसी तृष्णा में बची रह जाना नहीं चाहती थी। उसके 'बेबी' होगा। वह माँ बनेगी। जीवन-पर्यन्त पति और 'बेबी' के साथ वह चलेगी। यही उसकी जगह है, यहाँ से भाग कर कभी छुटकारा पाने वाला तकाजा मन में लाकर विद्रोह मोल ले लेना नहीं जँचता है। धैर्य जीवन का सब से मजबूत स्तम्भ है, उसे पकड़े रहना चाहिये।

फिर यह सहारा वातावरण। इस अकेले-अकेले में मन नहीं लगता है। वे पहले कह देते कि वहाँ यह हाल रहता है, तो वह नहीं आती। उन्होंने चुपके पूछा था 'चलोगी सुशीला ?'

मना करने वाला ज्ञान न जाने वह कहाँ बिसार चुकी थी। पति के साथ वह न कभी झगड़ती है, न तकरार बढ़ाती है। जो कुछ वे कहते हैं, उसको मान लेना अपना कर्तव्य गिन लिया है। फिर वह तो इतनी असमर्थ और लाचार है कि पति के सहारे ही चल रही है। अपना उसके पास कुछ नहीं। वह चूक चुकी थी। निरर्थक पड़ी रही, पति ने आकर न जगाया होता, पड़ी की

पड़ी ही रह जाती। यह उसका आज का जीवन, पति की देन है। अन्यथा वह तो जिन्दगी से निराश हो चुकी थी।

और......और भी घना कुहरा। टीन पर, टप-टप-टप करता पानी। उसने खिड़की खोल ली थी। बाहर देखा, पानी के नाले बह रहे थे। पास ही बँगले से लगा जो झरना था, उसकी तेज आवाज कानों में पड़ रही थी—छड़-छड़-छड़ड़ड़ड़! वह लौट कर बैठ गयी। सोचा, सत्या ने उस आधी रात को कहा था, 'उस लड़के से प्रेम करने लगी हूँ।'

सुशीला कुतूहल में चुप रही।

सत्या फिर बोली थी, 'उसे देखते ही मैं पहचान लूँगी। मुझे जरा अच्छा तो होने दे। अरी तू चुप क्यों है?'

'क्या?'

'तब क्या प्रेम करना ठीक बात नहीं है, उसने कुछ थोड़े ही कहा है। हम सब तो साथ-साथ रहेंगी जीजी।'

'अच्छा, क्यों बात क्या है?'

'बड़ा अस्पताल खोलेंगे। पाँच-छः साल की बात ही तो है। बहुत काम पड़ा है। लेकिन जीजी?'

'क्यों, क्या है!'

'वह मुझे इस तरह, क्यों बुला कर ले गया था।'

'यह जान कर कि तू अस्पताल की छोटी डाक्टरानी बनेगी, नुस्खे लिखेगी और सुशीला जीजी के साथ रहेगी। सब कुछ उसे मालूम हो गया है। तब मैं भला अकेली क्या करूँगी।'

'तो जीजी, तू कभी शादी नहीं करेगी?'

सुशीला ने जवाब नहीं दिया था।

'देख जीजी, तू कभी शादी मत करना। चाहे मैं मर ही जाऊँ। तू तब जरूर अस्पताल खोलना।'

'धत् क्या-क्या गणना करना सीख गयी।'

सुशीला कितना ही विश्वास करना चाहती थी कि सत्या बच जावेगी।

उसका आपरेशन ठीक तरह से हो गया है, उसकी आँतें अब ठीक हो रही हैं। डाक्टरों के सन्देह के आगे, वह फिर भी डर जाती थी। उनका कहना था कि भारी खतरा है। वह उनसे दलील करके समझाना चाहती थी कि सत्या जिन्दा रहेगी, मरने की नहीं है। वे सब उसकी राय पर कुछ जवाब नहीं देते थे, जैसे कि व्यर्थ ही वह सब कुछ कहा करती है! कभी-कभी तो उसे गुस्सा चढ़ता कि डाक्टर ठीक इलाज नहीं कर रहे हैं। वह उनको ठीक तौर पर समझा देना चाहती थी सत्या जिन्दा रहेगी—जीवित रहेगी। वह खूब जानती है कि वे सब बदमाश हैं। नहीं चाहते कि सत्या एकदम अच्छी हो जावे। इससे उनकी रोजी पर असर पड़ेगा। उनको फीस नहीं मिलेगी। बूढ़े मिलटरी के कर्नल से एक दिन उसने अपनी शङ्का बतलायी, तब वह हँसते हुए बोला, 'मिस सुशीला, खुदा करे तुमको एक दिन ऐसा ही जिम्मेदार मरीज मिले।'

वह चुप रह गयी थी। मेडिकल कालेज के अधूरे एक साल के ज्ञान से भला वह क्या रोग पहचान सकती थी। कोई व्यवस्था बनानी नहीं सीखी थी। वह तो एक नर्स की तरह, ठीक परवाह करना तक नहीं जानती थी।

सत्या अपने उस भारी सन्देह के बाद सो गयी थी। सुशीला बड़ी देर तक सत्या के पलँग के पास ही कुर्सी पर बैठी रही। अपने पलंग पर पहुँची थी कि सत्या चिल्लाई, 'जीजी, जीजी!'

सुशीला कुछ समझ नहीं पायी थी। पास पहुँची। देखा कि सत्या सफेद पड़ गई थी। भय से काँपती हुई बोली, 'जीजी, न जाने क्यों भारी डर लग रहा है।'

'मैं तो जगी हूँ।'

'वह फिर आया था।'

'कौन?'

'वही लड़का। उसके हाथ में वही खिलौना था। बोला, 'चल सत्या मेरे साथ। मुझे देरी हो रही है।'

'जीजी को मैं नहीं छोड़ूँगी! मैंने कहा था। वह तो खिलखिलाकर हँस पड़ा।'

सुशीला बात नहीं समझ सकी थी। यह दिमागी तमाशा या खेल केवल स्वप्न ही तो था! क्या सत्या मर रही है। उसकी सत्या मर रही है। उसने सत्या की 'पल्स' देखी, वह सुस्त मिली। वह घबड़ा गई। उठकर बाहर आई। दूसरे कमरे में धरा फोन उठाया, नम्बर मिलाकर चिल्लायी थी—डॉक्टर सत्या का दिल डूब रहा है।

लौट कर सत्या के पास बैठ गई थी। सत्या अब बोली थी, 'जीजी मैं उसके साथ जाऊँगी।'

'और अस्पताल, वह सारी स्कीम!'

'मुझे माफ करना जीजी।'

'क्या सत्या?'

'मैं उससे प्रेम करती हूँ!'

'प्रेम!'

'तू अस्पताल चलाना। किसी से प्रेम मत करना। वह मुझे बुला रहा है।'

और सत्या ने फिर कुछ नहीं कहा था। भारी बुखार चढ़ा और बेहोश हो गयी थी। बुखार एकदम उतरा और वह खत्म हो गयी। सुशीला 'हिल स्टेशन' से लौटकर फिर 'मेडिकल कालेज' में पढ़ने नहीं गयी। उसके जीवन में कुछ उत्साह बाकी नहीं रह गया था। सत्या उसकी सारी उम्मीदों पर पानी फेर कर चली गयी थी। उसका मन उचाट हो आया। कहीं तबियत नहीं लगती है। एक दिन उसके आगे शादी का सवाल उठा, वह साफ इनकार कर चुकी थी। लेकिन सत्या की माँ की भारी कसमों के आगे वह कुछ नहीं बोली। शादी हुई। सारा झगड़ा मिटा कर वह पति के साथ आयी। कुछ हल्ला नहीं किया। उसके अस्वस्थ मन और शरीर ने नया जीवन पाया। वह स्वस्थ होने लग गयी।

फिर वही बरसात। पिछली स्मृति के साथ, आज फिर मन में अड़चन आयी, परेशानी फैली और वह बहुत उलझ गयी। सत्या मर गयी थी! दुनिया कुछ नहीं। सब कुछ अपना-पराया, एक ढोंग!

तभी उस कुहरे के बीच, उसने एक भारी चीख सुनी। किसी ने पुकारा—जीजी !

सुशीला उठ बैठी। बाहर पानी बरस रहा था। सत्या का वह स्वर, कुहरा छेदकर उसके कानों में पहुँचा। खिड़की से बाहर देखा—कुछ नहीं, कुछ नहीं ! फिर एक आहट हुई, जैसे कि कमरे में कोई चल-फिर रहा हो। दूसरे कमरे से आवाज आयी—जीजी, ओ जीजी !

वही सत्या का स्वर ! वह चौंक कर उस कमरे में पहुँची। धुँधला अँधियारा था। कुछ और नहीं दीखा। उसके पति के कागजात मेज पर पड़े, फैले हुए थे। लगा कि कोई उन कागजों को चीर-फाड़ रहा है। स्तब्ध सुशीला खड़ी थी, खड़ी ही रह गयी। सत्या कहाँ से आयी है। स्वर वही-वही था। वह पहचानती है।

तभी फिर वही स्वर—जीजी !

लगा, पेटके भीतर जो 'बेबी' है, वह चलने-फिरने लग गया है। वही बोल रहा है। भ्रम कुछ नहीं। वही सत्या है। सत्या 'बेबी' बन कर फिर एक बार आयी है।

कि उसने सीढ़ियों पर हँसने की खिलखिलाहट सुना। सत्या तो हँस रही थी। कहाँ रही सत्या—निर्मोही कहीं की। अब पकड़ कर, भागने नहीं दूँगी।

वह जल्दी से बाहर निकली। सीढ़ियों के पास पहुँची। घना अँधेरा था, लगा कि कोई नीचे भाग रहा है। सत्या की आहट थी। वह उद्भ्रान्त हो उठी। जल्दी-जल्दी सत्या को पकड़ने उतरी; किन्तु पाँव फिसल गया। वह धड़ाम से नीचे गिर पड़ी।

आवाज सुनकर नोकर बाहर आया। देखा कि सुशीला खून से लथपथ भीग गयी थी। खून बहता-बहता जा रहा था।

आध घण्टे बाद, बड़े डाक्टर ने आकर कहा था, बच्चा मर गया है। आपरेशन होगा। जिन्दा रहने की कोई खास उम्मेद नहीं।

———

व्याख्याहीन-जीवन

उस कल्याणी के बारे में दुनिया भर के लोग मुझ से सवाल किया करते हैं और मैं चुप रह जाना सीख गया हूँ। उसके प्रति मेरे दिल में बहुत आदर नहीं है। हरएक नारी को अपने समीप पा, एक भावुक डाक्टर की हैसियत से चीर फाड़ कर, उस 'मूक' रहने वाली जाति का कोई उपकार नहीं हो सकेगा। काफी अनुभव के बाद मुझे यह जानकारी हो चुकी है। इसी लिये मैं पुरुष की उस दया पर विश्वास नहीं करता, जिसे वह नारी पर झूठ-मूठ बरतना सीख गया है। मैं तो नारी को केवल एक आकर्षण मानता चला आया हूँ, जो चुम्बक की तरह अपने समीप खींच लेने की शक्ति रखता है। फिर भी नारी की परवशता का प्रश्न आये दिन उठता ही रहेगा, जैसे कि वह जरूरी सवाल हल करने को बचा हो तथा मसलों के साथ उसे ले लेना अनुचित होगा। कुछ हो कल्याणी को लेकर उसके नारीत्व से मैं फिलहाल मन नहीं बहलाना चाहूँगा। बेकार अपने ऊपर उस भारी गठरी को क्यों लाद लूं। अक्सर मैंने कल्याणी को 'भूल' जाने की कोशिश की है, फिर भी लोग उस नारी-प्रतिमा को पग-पग पर मेरे आगे लाकर खड़ी करने के प्रति सचेष्ट हैं। आज मैं मना नहीं करता। उस छाया को आँखें मूँदे घण्टों अपने सम्मुख पाता हूँ। वह कल्याणी उसी तरह मूक खड़ी मिलती, जैसे कि आज भी मैं उसे नहीं पहचान पाया हूँ, और वह अपने दिल की कुछ बातों को उगलने के लिये तैयार हो। मेरी सहानुभूति का संभवतः उसे विश्वास नहीं, अन्यथा वह साफ-साफ सब बातें क्यों नहीं कहती है? क्या वह सर्वदा से इस तरह बातें घुमाना नहीं बरतती रही? अब वह कल्याणी केवल एक अहसान की तरह मेरे जीवन में रुकावट डालती है। मैं मना नहीं करता। सब बाते सहने का आदी हूँ। अपनी इस आदत के लिये अपने आप को नहीं कोसता हूँ। समाज तो चरित्र का काला परदा नारी के ऊपर डालने में प्रवीण है! एक अरसे तक कल्याणी सहूलियत के साथ पक्का मन किये, उसे ओढ़े रही। उसने कभी उसका विरोध नहीं किया।

मैंने उस कल्याणी को पहले-पहल सरकारी अस्पतालों में देखा था। वहीं उससे आखिरी मुलाकात भी हुई। उसके बाद कल्याणी के जीवन के आगे चार-विराम पड़ गया और आज वह जनता के बीच नारी-चरित्र तौलने की एक कसौटी-मात्र रह गयी है। युवतियों के दिल में कल्याणी के लिये एक तड़पन है, माताओं के दिल में ममता, बुढ़ियाएं उसे कलमुंही कहकर तिरस्कार करती हैं और पुरुष-समुदाय उसकी तुलना एक रंगीन चिड़िया से करता है, जो लुभावनी होती है। जिसका शिकार हर एक बाज करना चाहता है। वह कल्याणी माँ थी। उसका एक सुन्दर बच्चा था। मां और बच्चे के साथ-साथ, उसे वह बच्चा कभी नजदीक से देखने का अधिकार नहीं मिला। बच्चे की पैदायश के बाद उसे हल्का ज्वर रहने लगा। वह किसी तरह नहीं उतरा। डाक्टर, वैद्य और हकीम हार गये। होमियोपैथी, एलोपैथी की दुकानों के 'बिलों' से रोग ने अपना अधिकार नहीं छोड़ा। वह कमजोर होती चली गयी। शरीर क्षीण पड़ गया। सिर्फ आँखों में एक तेज प्रकाश की रेखा कभी-कभी दीख पड़ती थी और खुरदरे ओठों में यदाकदा हँसी फैली हुई मिली। इसके अलावा एक अजीब लापरवाही उसने अपना ली थी। बहुत कम बोलती। किसी बात का जवाब नहीं देती। जरा खटका होने पर अपनी मुंदी आँखों को चुपके खोल फिर मूँद लेती थी? कभी तो लगता था कि वह मन ही मन कुछ सोच रही है, अपना उसका हित जैसे कि वही व्यवहार बचा हुआ था। इसी लिये जब मैं ने कल्याणी का अस्पताल के कमरे की चार पाई पर देखा; तो एक बार मैं क्षण भर उसे देखता ही रह गया। उसके बारे में जो कुछ सुना था, सब बातें आगे फैल गयीं। मैं ने यही सोचा कि वह सामर्थ्यवान नारी है, जो पुरुष के लगाये अपवादों को रोज कुचल कर आगे बढ़ जाती है। उसे किसी का खास ख्याल नहीं है। कहीं प्रतिवाद भी नहीं करती। चुपचाप सुनती-सुनती रहती है। अपना दिल जैसे कि फौलाद को तरह पक्का हो। उस पर कितना ही जोर मारा जाय, वह कदापि दुखेगा नहीं। तभी तो वह और नारियों से इतनी भिन्न थी, जो समाज की दुहाई के बीच अपना अपनत्व नष्ट कर देती हैं।

तुम लोग 'सेनिटोरियम' का हाल ठीक-ठीक नहीं जानते हो। चीड़ और

इकलिपटिस के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से घिरी उन इमारतों के बीच मानव-जीवन की भावना, भावुकता, प्रेम, रोमान्स आदि-आदि कई सूक्ष्म प्रवृत्तियों का कितना खतरनाक खेल होता है। इससे कितने लोग परिचित हैं? उन रोगियों का जीवन—जो कि रोग के साथ अपना जीवन-खेल खेलने में प्रवीण मिलते हैं, और वे डाक्टर—? नहीं, मैं डाक्टरों की जाति के खिलाफ कुछ नहीं कहूँगा। आज मैं खुद एक सफल डाक्टर हूँ। लेकिन उन दिनों उस अस्पताल में काम सीख रहा था। वहां उन दिनों एक बूढ़ा डाक्टर रहता था, जिसकी बीबी मर गई थी। उसकी एक भी लड़की-लड़का नहीं था। वह वहाँ के मरीजों के बीच रहता था। उसी परिवार में रहते-रहते, उसने अपने जीवन के साठ साल काट दिये थे। उसके बाल खिचड़ी की तरह काले-सुफेद थे। फिर भी वह इलाज करने में बहुत प्रवीण था। हर एक मरीज का ख्याल था कि डाक्टर उसकी खास तौर पर परवाह करता है। वह उसकी सफलता ही थी। जब मैं वहाँ पहले-पहल पहुँचा, तो मन उचाट रहता। वह समझ गया। एक दिन बोला "तू डर क्यों जाता है, बेटा? इस दुनिया में अधिक तायदाद रोगियों की है। मन के रोगों और शरीर के रोगियों की संख्या यदि जोड़ दी जाय, तो वह संख्या दुनिया को ही ढंक लेगी। फिर यदि यह रोग ही न हो तो आदमी सफलता की ओर नहीं बढ़ेगा। निराश होकर व्यक्ति में काम करने की ताकत आती है।"

"लेकिन डाक्टर, यदि दुनिया में इतनी पीड़ा है, दुःख है, और...।"

"अभी तूने नया-नया पेशा शुरू किया है। आगे यह भावुकता नहीं चलेगी। एक डाक्टर अपनी भावुकता को अपने पर लागू नहीं करता है। उसकी भावुकता उसके मरीजों की एक मात्र 'आशा' है। और तू फिलहाल एक मरीज को अपने हाथ में ले ले। वह लड़की है न, आठ नम्बर वाले कमरे में। टी० बी० का ऐसा मरीज तुझे नहीं मिलेगा। उसमें उस रोग के पूरे-पूरे लक्षण विद्यमान हैं। वह सामने आलमारी में उसकी फाइल धरी है। उसकी हिस्ट्री पढ़ ले। कल से तू ही उसका इलाज करेगा।"

"मैं?" मैं भौचक्का रह गया। देखा कि डॉक्टर गंभीर था। मैं चुप

चाप बैठा का बैठा ही रह गया था। मैंने फाइल उठायी और पढ़ने लगा ?

कल्याणी, उम्र बीस साल, दस महीने का एक बच्चा। पहिले हिस्टीरिया हुआ था, फिर वह रोग घट गया। उपन्यास पढ़ने का शौक बचपन से ही था। बचपन में बड़ी उच्छृङ्खल लड़की थी, इसी लिये माँ ने बहुत मारा। अकेली लड़की ; पिता धनी आदमी थे। बहुत लाड़-प्यार से पाली गयी। पन्द्रह साल की उम्र में उसकी एक लड़के से जान पहचान हो गयी। कल्याणी ने उसे अपनाया। माता-पिता की बात उसने नहीं मानी। वह लड़का चला गया। कल्याणी दुःखी रहने लगी। फिर वह लड़का तीन साल बाद लौट कर आया। कल्याणी के पिता की मौत हो गयी थी। माँ की कुछ नहीं चली। कल्याणी उसी के साथ रहने लगी। उनका बच्चा हुआ। बिना किसी सामाजिक उत्सव के ही कल्याणी ने उसे पति घोषित कर दिया।

इसके बाद साधारण इलाज की व्यवस्था आदि पर प्रकाश डाला गया था। मैंने सब और सारी बातें पढ़ीं और अपने नये मरीज के पास पहुँचा। वह चुपचाप अकेली लेटी हुई थी। मेरे आने का खटका सुन कर सावधानी से आँखें खोल लीं। मैंने उसे देखा। मन ही मन कुछ सोचने लगा। बड़ी देर तक न जाने क्या-क्या सोचता रहा। तभी कल्याणी ने धीमे स्वर में पूछा "आप ही नये डाक्टर हैं न ?"

"हाँ", अनायास मेरे मुँह से निकला।

"डॉक्टर साहब आपकी बड़ी तरीफ कर रहे थे। आपके बारे में हम सब कुछ सुन चुके हैं। अब मुझे पूरी उम्मीद है कि मैं जल्दी ही चंगी हो जाऊँगी। आप किसी तरह हो मुझे अच्छा कर दीजिये। मुझे एक विश्वासघाती से बदला चुकाना है। इसी भारी हवस के लिये मैं यहाँ पड़ी हुई हूँ। मैं अभी मरना नहीं चाहती हूँ। मुझे एक आदमी ने धोखा दिया है। उसको बिना उसके अपराध की सजा दिये मैं मर जाऊँगी तो··· ··! बचन दो कि तुम मुझे आराम कर दोगे।"

मैंने उसे पूरा आश्वासन दिया। हर तरह समझाया कि वह अच्छी हो रही है। एक डाक्टर के पूरे-पूरे कर्त्तव्य को मैं निभाने लग गया। हर

तरह कल्याणी के रोग से दिलचस्पी ले, उसकी जीवन-घटनाओं को समझ लेने की कोशिश की। अक्सर उसके 'खोटे चरित्र' का सवाल जो लोगों से सुना करता था, उस पर मैंने पूरी-पूरी जानकारी हासिल कर ली। वह लड़की कुछ छुपाना नहीं जानती थी। उसकी दृष्टि में उसका वह बच्चा पाप नहीं था। यदि उसका साथी उस तरह भाग कर न चला गया होता, तो दुनिया को यह कहने का मौका न मिलता कि वह कलंकिनी है। अपने उस दोस्त को वह तारीफ करते-करते कभी बहुत गुस्से में भर जाती। तेजी से कहने लगती, डाक्टर मैं उसे मार डालूँगी। उसका खून करूँगी। वह क्यों मुझे इस तरह असहाय छोड़कर चला गया? मैंने उस के साथ कभी कोई बुरा सुलूक नहीं किया। मेरी क्या गलती थी? उसके लिये मैंने दुनिया के कितने ताने नहीं सुने। क्या-क्या नहीं सहा? ओफ, यदि वह उस तरह न चला गया होता, मैं बीमार नहीं पड़ती। हम लोग कितने सुख से रहते ....।

लेकिन कल्याणी की हालत बिगड़ती चली गयी। डर लगता था कि कहीं उसका जीवन समाप्त न हो जाये। मैं अपने मन के भय को एक ओर हटा, उसका उपचार करता। ठीक तरह दवा देता। इंजेक्शन लगाता और परिचर्या का भार अपने ऊपर ले, कल्याणी की सब बातें खूब नजदीक से भांपा करता था। जितनी ही मैंने सावधानी की। उतना ही रोग असाध्य होता चला गया। मैं घबड़ा उठा।

उस दिन सुबह कल्याणी को मैं दवा पिला रहा था कि वह खिल-खिला कर हंस पड़ी। मैं अवाक उसे देखता ही रह गया। वह बोली "तुम तो बहुत घबड़ाये से लगते हो डाक्टर! मैं अच्छी हो रही हूँ। तुम क्यों मेरी फिक्र कर अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर रहे हो? पिछले दिनों मैं परेशान थी। तुमसे कह नहीं सकी, अब नहीं छुपाऊँगी।"

"वह क्या बात है कल्याणी?", मैंने सरलता से पूछ डाला।

"मेरे मन में पाप उठा था। मैं, न जाने क्यों सोचने लगी थी कि तुम मेरे पति होने के योग्य थे।

"मैं" उलझन में मेरे मुंह से निकला।

"नहीं, नहीं, वह मेरा पागलपन था। मैं मां हूँ, अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। मेरा एक पति है, वह आवारा है और शराब पीता है। वेश्याओं के साथ पड़ा रहता है। फिर भी एक दिन उसने मेरे जीवन में प्रवेश किया। मैंने उसे मना नहीं किया। हमारी भावरें नहीं पड़ीं फिर भी मैं माँ हूँ, मेरे बच्चे का एक पिता है। मुझे और कुछ नहीं चाहिये शायद आज मेरे पास उसे लुभाने के लिये कुछ नहीं है, अन्यथा वह मुझे इस तरह छोड़ कर कदापि नहीं चला जाता और मैं तो बावली हूँ कि उसे कोसती हूँ……।"

"आज तो तुम एक वकील की तरह उसकी पैरवी कर रही हो।"

"यह देखो न, उसकी चिट्ठी आयी है। उसे रुपये चाहिये, यदि ठीक वक्त पर पैसे नहीं पहुँचेंगे तो आत्महत्या कर लेगा। डाक्टर, उसे रुपये भेज दो—कह कर उसने सिरहाने के नीचे से सौ-सौ रुपये के दो नोट निकाल कर मेरे हाथ में रखते हुए कहा, अभी अभी तार से भिजवा दो। मैं आपका अहसान नहीं भूल सकूँगी।'

मैंने रुपये भेज दिये। यह समझने की कितनी ही कोशिश की कि कल्याणी क्या है। उसकी नारी दुर्बलता को अधिक फैलाना अनुचित लगा। क्यों मैं कल्याणी पर अपना यह अधिकार मान लेता? वह मेरी मरीज थी। रोग के मार्फत हमने एक-दूसरे को पहचाना था। जब तक कल्याणी अच्छी नहीं हो जाती, वह मेरी जिम्मेदारी में थी। अपने काम में मशगूल हो गया। न जाने कितने विचारों से घिर गया था कि बड़े डाक्टर की आवाज सुन कर उठ गया। "बैठो-बैठो।" वे बोले। कहते रहे, "तुमने रुपये भेज दिये?"

"हाँ।"

"यह क्यों नहीं कह देते कि तुमने उसकी मौत के परवाने पर दस्तखत कर दिये हैं।"

"मैंने?"

"अब सब बेकार हो गया है। कल्याणी ने तुमको बहकाया है। वह बहुत होशियार लड़की है। वह चिट्ठी झूठी थी और रुपये झूठे पते पर भेज दिये गये हैं।"

"क्यों .....?"

"वह लड़का गिरफ्तार हो गया है। एक खून के मामले में उसको पकड़ा गया। उसने एक वेश्या का खून किया है।"

"आप को कब मालूम हुआ है?"

"आज सुबह एक तार कल्याणी के पास आया था। वह तुमसे सहानुभूति चाहती थी। उसे यह विश्वास नहीं था कि तुम इस तरह उस की दया में पिघल जाओगे।"

"लेकिन डाक्टर; कल्याणी कसूरवार नहीं है। मैं चाहता हूँ कि वह जीवित रहे। मैं उसे समझाऊंगा। धैर्य दूंगा। वह अच्छी हो जायगी।"

तभी बड़ा डाक्टर खिलखिला कर हँस पड़ा। अचरज से मैं उसकी ओर देखता ही रह गया। वह आखिर बोला, "कल्याणी अपने प्रेमी को भूल गयी है।"

"अपने पुराने प्रेमी को?"

"और अस्पताल में ही वह एक खतरनाक खेल खेल रही है।"

"कल्याणी?"

"कल्याणी जानती है कि वह जीत जायगी। किसी का डर उसे नहीं।"

"आप क्या कह रहे हैं?"

"वह एक दूसरे व्यक्ति को प्यार करने लगी है। यह ठीक ही हुआ।"

"दूसरा प्रेमी! यह तो कल्याणी के प्रति एक भारी कलंक होगा।"

"कलंक—! अब वह ऐलानिया उसे अपना प्रेमी नहीं कहेगी! नारी अनजाने छुपाकर भी आजीवन प्यार कर सकती है। उसे यह जरूरी नहीं होता है कि वह उसे जाहिर करे और न यह आवश्यक है कि नाता शारीरिक ही हो। खैर, छोड़ो कल्याणी की बात। तुमको अभी पहली गाड़ी पकड़नी होगी। सामान ठीक कर लो। मैं ने ड्रायवर से कार मंगवा ली है। कल्याणी से मिलना जरूरी नहीं। मैं उसे समझा दूंगा।"

डाक्टर की आज्ञा मान कर मैं तैयार हो गया। जब कार स्टार्ट होने को थी, मैंने साहस कर पूछ डाला, "उसका प्रेमी कौन है?"

"उसका प्रेमी ?"

"हाँ, हाँ, कल्याणीका प्रेमी ?"

"यह जानकर क्या करोगे ?"

"नहीं—नहीं डाक्टर, बतला दो।"

"तब बतला दूं। सुनो, उसका प्रेमी उसका बच्चा है।"

"उसका बच्चा ?"

मैं अधिक न सुन सका, कार आगे बढ़ गई थी।

विवेक का सवाल

मिस्टर विनायक गम्भीर चिन्तन में पड़ गये। मुकदमे की हार से मन में उचाट हो आया। उन्हें अब विश्वास हो गया कि हमीद कानून की नजीरें गलत पेश करके दुनिया को धोखा देता है। कानून के प्रति यह भारी अपराध लगा। और हमीद की ईमानदारी पर सन्देह हुआ। हमीद सारा बुराइयों की जड़ निकला करता है। अपनी इज्जत और बड़ाई के लिए उसे अनुचित उचित का खयाल ही कब हुआ था। वह सब कुछ कर सकता है। वह खूनी और फरेबी साबित होने लगा। वह दुनिया की सारी बातें समझ कर अपने व्यक्तित्व को ऊपर उठाये रखना चाहता था। आज के फैसले के बाद अब कहीं कोई उलझन बाकी नहीं रह गई थी।

बैरिस्टर विनायक की दलील थी, नौकरानी बेकसूर है। वेश्या की मौत से उसका सम्बन्ध नहीं। इसे खून कहना भूल होगी। रोगिणी वेश्या के गले पर अथवा शरीर पर कहीं कोई निशान नहीं था। वह बहुत कमजोर थी। सिगरेट पीते-पीते सो गई और जब उसकी नींद टूटी तो कमरे में धुआँ भरा हुआ मिला। वह घबड़ा गई। इधर-उधर भागने की व्यर्थ कोशिश करते-करते उसका हार्टफेल हो गया।

प्रोफेसर विनायक लॉ कालेज में पढ़ाया करते थे। वे क्लास-रूम के लिए उपयुक्त थे। उनकी आँखें भावुकता और अजीब खयालों से घिरी रहा करती थीं। उनकी सचाई अविश्वासनीय नहीं जान पड़ती थी। उनके व्यक्तित्व और तर्क में भारीपन नहीं था। वे किसी पर अपना खास प्रभाव नहीं डाल सकते थे। उनकी आवाज कालेज के कमरों में गूँजने लगती थी। उम्र में वे हमीद से कुछ बड़े लगते थे।

सरकारी वकील हमीद दुनियादार आदमी था। उसकी आवाज भारी थी। वह अपने विश्वास को पकड़ कर चला करता था। उसे कहीं कोई डर नहीं लगता था। वह ठीक और पते की बात कहना जानता था। दुनिया के बीच रहकर उसे उस सब का पूर्ण परिचय था। वह कहीं सस्ते तर्क आदी नहीं रहा। अपनी दलील को उठा कर वह जितना कहता था, उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता था।

बैरिस्टर हमीद जब कहने को उठा था, तब सारे कोर्ट रूम में सन्नाटा छा गया। वह बोला, दो डाक्टरों की राय के मुताबिक शरीर के बाहर कहीं कोई घाव नहीं है, किन्तु तीसरे डाक्टर ने 'माइक्रस-कोप' से घाव देखे हैं। माई लार्ड, आप उनको देखकर चौंक जाते, काँप उठते! हमारी सभ्यता क्या आखिर इस नतीजे पर पहुँच गई है? हमारा कर्तव्य क्या आदमी को धोखा देना ही रह गया है? माना कि जिन्दगी का कोई ठिकाना और वक्त नहीं। यह केवल एक वेश्या की मौत का सवाल नहीं है। हम व्यक्ति से ऊपर न्याय के कायल हैं। मेरे दोस्त को दुनिया से मतलब नहीं हैं। उनकी दृष्टि में पैनापन नहीं। आदमी के अन्दर टटोलकर देखना भारी मुश्किल बात है। जरूरतें और वक्त आदमी को मजबूर बना देती है। पैसा और स्वार्थ आदमी को ढकता जा रहा है। अनजान नौकरानी कानून नहीं जानती थी। लोभ में पड़कर वह यह सब कर बैठी, फिर बचाव के लिए सिगरेट का नाटक रच डाला। कानून के आगे दया का सवाल नहीं आता है। हमें तो गलत को गलत ही कहना चाहिए। नौकरानी कम उम्र की है, यह देखकर उसे कानून की दफाओं से बाहर नहीं रखा जा सकता है। वह कसूरवार और खूनी है।

मिस्टर हमीद की बहस उभरी लगी। वह एक-एक बात तोल-तोलकर कहता था। एक-एक शब्द दिल के भीतर फैल जाता था। जजने फैसला दिया कि मुलजिम खूनी है—काला पानी!

आज फिर विनायक के जीवन में हमीद ने आकर एक भारी हल्ला मचा दिया था। विनायक एक और बाजी हार गया। यह हार उसे परेशान किये थी। हमीद हमेशा ही उसका मजाक उड़ाया करता था। हमीद अपनी जीत से बार-बार उसे कुचल डालना चाहता था। वह रोज ही एक अड़चन पैदाकर उसके आगे खड़ा होना सीख गया था। विनायक के दिल का मैल बढ़ता ही गया। क्या हमेशा ही उसे हार जाना है? क्या वह दुनिया के आगे यही पाता रहेगा? अथवा हमीद की तेज आँखों के आगे उसकी आँखें क्यों बुझ जाती हैं!

किन्तु विनायक और हमीद का यह पहला मुकाबला नहीं था। दोनों एक अरसे साथ-साथ रहे, एक दूसरे को खूब पहचानते थे। बचपन में, क्लास में एक दूसरे के पास सीटों में बैठ कर पढ़ते रहे। एक दिन हाकी की मैच में एक दूसरे के बरखिलाफ खेले। तब ही एक दूसरे के आगे आया, हमीद की टीम हार रही थी। जब गेंद उसके पास आई तो गुस्से में उसने जान कर विनायक के पांव पर स्टिक मार दी। बस दोनों झगड़ पड़े। यहीं से वे अलग-अलग हो गये थे।

पाँच साल बाद कालेज में फिर दोनों एक दूसरे के आगे खड़े हुए थे। विनायक कालेज-सिक्रेटरीशिप के लिए खड़ा हुआ और हमीद भी। दोनों अपने अपने लिए 'वोट' जमा करते रहे। विनायक कहता था:—हमें अपने सिद्धान्त को मान कर चलना चाहिए। भविष्य की एक बड़ी जिम्मेदारी हम पर है। हम अपने ही लिए नहीं, राष्ट्र के लिए हैं। हमें सावधानी से चलना पड़ेगा। समझ हमारी जरूरत है—भावना नहीं।

हमीद की बात थी:—दोस्तों मौज करो। क्यों फिक्रें और तवालतें मोल लिया करते हो। आज कट गया है, कल भी कट जावेगा। 'फिलासफी' की परेशानियों से हमें मतलब नहीं है। हम लड़ना जानते हैं। हार-जीत से वास्ता नहीं रखते।

विनायक को जीत की बड़ी फिक्र थी। वह कुछ और नहीं सोचता था। यह छोटी लड़ाई ही उसके मन में घबराहट पैदा कर देती थी। हमीद की जीत हुई। वह विनायक के पास आकर बोला। 'दोस्त इसमें अफसोस का तकाजा नहीं। तुम यह जगह चाहते हो, खुशी से ले लो। विनायक फिर भी उसकी टी-पार्टी में शामिल नहीं हुआ। आगे एक दिन दोनों ने डिगरी ले कर दुनिया में प्रवेश किया था।

फिर पन्द्रह साल तक दोनों की मुलाकात नहीं हुई। एक दूसरे का कोई ख्याल नहीं रहा। अलग अपने-अपने दायरे में चलते रहे। इतनी बड़ी फैली दुनिया में कहाँ किसी का खयाल रहता है!

किन्तु एक दिन, मुकदमे में विनायक ने देखा कि हमीद उसके विपरीत-वाली पार्टी में सरकारी वकील की हैसियत से है। अजीब मुकदमा था। दो दोस्त थे। उन में से एक, एक दिन मरा हुआ पाया गया। डॉक्टरों का कहना था कि मौत संखिया से हुई है। यह साबित हो गया था कि आखिरी खाना उसने अपने दोस्त के यहाँ खाया है।

विनायक की दलील थी, भावुकता की वजह से यह मौत हुई है। दोनों के बीच आपसी कोई झगड़ा नहीं था। कहीं कोई सन्देह नहीं उठता है। आदमी का अपने ऊपर से कभी-कभी भरोसा उठ जाता है। वही हालत उस आदमी की थी। उसका लड़का मरा, वह जायदाद कर्ज में बेच चुका था। अपनी मानसिक कमजोरी की वजह से असमर्थ होकर, उसने यह किया है।

हमीद का तर्क था, असम्भव घटना बन जाती है। मुलजिम यह सुनकर कि उसका दोस्त मर रहा है, वहाँ नहीं गया। उसके दोस्त ने सब का नाम लिया किन्तु मुलजिम के लिये कोई सन्देशा उसने नहीं छोड़ा है।

कोर्ट ने फाँसी की सजा दी थी।

इसके बाद विनायक कई दिन तक 'क्लास' को ठीक तरह से नहीं पढ़ा सका था। जब लड़के इस मुकदमे के सम्बन्ध में सवाल पूछते थे, तब उसके मन में भीतर हमीद के प्रति बड़ी घृणा उत्पन्न हो जाती थी। हमीद दुनिया को ठग सकता है। उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं। पैसे को वह सहूलियत समझ लेता

है, इसी तरह के न जाने क्या-क्या विचार विनायक के मन में उठते ही रहे। हमीद को तो हारना नहीं था। जीत से ही उसका वास्ता रहता था। विनायक अपने मन को समझाना चाहता था। विद्रोह उठ-उठ कर फैल जाता था।

आज नौकरानी का वह चित्र आगे आया : वह अठारह साल की युवती हमीद की वजह से समाज से अलग रहेगी। वह कितनी भोली लगती थी। अपने दिल को खोल कर उसने विनायक के आगे रो-रो कर छुटकारे की प्रार्थना की। वह लड़की किस तत्व की बनी थी; कितनी सुहृदय! यह हमीद क्यों उसे समझ नहीं सका? जज ने जब फैसला सुनाया था; उसने सुना, विश्वास नहीं हुआ और फिर बेहोश जमीन पर गिर पड़ी थी। उसे यह उम्मीद कब थी! उसे अपने बैरिस्टर पर पूर्ण विश्वास था। वह असहाय और लाचार थी।

विनायक फैसले से सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह लाइब्रेरी पहुँचा। वहाँ वह इसके खिलाफ नजीरें ढूँढ़ना चाहता था। कई किताबें उसने टटोली, नोट लिये और बड़ी देर तक लिखता रहा। दूसरे कमरे में कोई पढ़ रहा था। वह अपनी ही बातों में डूबा रहा। उधर ध्यान ही नहीं दिया। आखिर वह अपने मन के मुताबिक एक नजीर पा गया। खुश होकर लौट रहा था देखा, हमीद अपने उपन्यास पढ़ने में लीन था। वह भौचक्का रह गया।

हमीद ने आँखें उठाई, वह बोला, "मि० विनायक कानूनी किताबों को अलग रख तुम को अपने स्वास्थ का खयाल रखना चाहिये। उपन्यास दिल बहलाने के लिये अच्छा साधन है।"

विनायक कुछ नहीं समझ सका। यह हमीद था या एक खयाल! आँखें फाड़-फाड़कर खड़ा का खड़ा ही रह गया।

फिर हमीद बोला, "तुम बहुत ज्यादा काम करते हो? इतना पढ़ना तो एक बीमारी है।"

अब विनायक समझा कि उसका दुश्मन, वहीं उसके आगे ही, उसकी मखौल उड़ा रहा है। वह चुपचाप किताब मेजपर रख हमीद के नजदीक पहुँचा और बोला, "तुम मेरी हँसी उड़ा रहे हो।"

हमीद चुप रहा। उसे परिस्थितियों की परवाह नहीं थी। अभी तक उसके

चेहरे पर हँसी फैली हुई थी। वह धीमे स्वर में बोला, 'विनायक मैं यह नीच ख़याल नहीं रखता हूँ; न मेरे दिल में तुम्हारे लिये व्यक्तिगत कोई बुरी भावना है।"

"यह मैं खूब जानता हूँ। अपने पेशे से तुम दुनिया भरका पैसा चूसना चाहते हो। अपने स्वार्थ के लिये तुमको भलाई-बुराई नहीं सूझती है। तुमको खुदा का डर नहीं है। आदमी को तो तुम कुछ समझते ही नहीं हो।"

हँसता हुआ हमीद बोला, "तब तो सारी दुनिया की सभ्यता पर आग लगा लेने का ठेका मैं ने ही लिया है।"

"कितनों को फाँसियाँ, कालापानी, जेल .... !"

"लेकिन जज और जूरी ?"

"वे सब तुम्हारे बहकाने में आ जाते हैं। उनकी ईमानदारी तुम्हारे आगे हार जाती है।"

"विनायक कभी तो बातों पर ठीक विचार किया करो।"

"तुम बदमाश हो।"

"समझ की बात क्या कभी तुम नहीं सीखोगे ?"

"तुम बेईमान हो !"

"विनायक तुम होश में हो ?"

"हाँ, हाँ !" कहता विनायक हमीद के ऊपर झपटा ! हमीद चुपचाप सोफ़ा पर बैठा ही रहा। विनायक गुस्से में खूब घूँसे मारता कहता रहा, "तुम इस दुनिया को ठग रहे हो। तुम खूनी हो !"

हमीद निर्जीव पड़ा का पड़ा ही था। वह कुछ नहीं बोला। विनायक चौंका। उसका घुटना हमीद के पेट और हाथों की उँगलियाँ हमीद के गले को जकड़े थीं। कुछ देर बाद वह पसीना पोंछता हुआ उठा। यह सब ठीक बात नहीं थी। वह लाचार था। सँभल कर वह बोला, "हमीद, माफ़ करना; तुममें यह सब्र कैसे आ गया है ?"

हमीद कुछ नहीं बोला, पड़ा ही रहा। कोई उत्तर नहीं दिया। चारों ओर एक भारी चुप्पी थी। केवल बीच में घड़ी की टिक-टिक सुनाई देती थी।

विनायक ने हमीद को देखा, खूब देखा, टटोला''' । गुनगुनाया—मर गया। वही बात जो नर्स ने की थी। वह दो मिनट और खड़ा रहा। सोचा कि उसने अपने दोस्त का खून कर डाला है। अब जज, जूरी और फाँसी! न्याय के हाथों उसे छुटकारा नहीं मिल सकता है।

कुछ देर बाद वह उठा। बाहर आकर इधर-उधर घूमता रहा, हमीद गहरी नींद सोया था। अपने पहले वाले कमरे में जाकर पढ़ता रहा। नौकर को बुलाकर पूछा, "क्या बज गया है?"

"साढ़े नौ।"

"बड़ी देर हो गई है।" यह कह कर वह बाहर आया और घर की ओर रवाना हो गया।

उसे नींद नहीं आई, वह परेशान था। उसने सोचा कि हमीद के साथ उसने विश्वासघात किया है। परिस्थितियाँ ही ऐसी आ जुड़ी थीं। कालेज, स्कूल और आज तक दोनों एक दूसरे के साथ रहे। अब वह पुलीस का इन्तजार करने लगा। अगले दिन सुबह के समाचार पत्र उसने पढ़े। हमीद की मौत का समाचार छपा था।

दिन को वह बाहर जा रहा था कि किसी ने पुकारा, "मि० विनायक!"

एक युवक था। विनायक चौंक उठा, उसने सोचा कि वह कोई भेदी था। जेब में रखी जहर की शीशी उसने उँगलियों से पकड़ ली।

वह युवक फिर बोला, "हमीद के घर नहीं चलोगे?"

"कहाँ?"

"देश का बहुत बड़ा नुकसान हो गया है। वह तुम्हारा सब से बड़ा दोस्त था।"

विनायक चुप रहा।

"तुमको ही नहीं, हम सब को अफसोस है। उसका कोई रिश्तेदार यहाँ नहीं है। मैं नौकरों की मदद के लिये जा रहा हूँ।"

"पोस्टमार्टम के लिये?"

"नहीं कब्रिस्तान ले जाना है।"

"एकाएक यह मौत ! कोई शक तो नहीं है ?"

"हमें खुशी है कि इस फजीते से हम लोग बच गये। कुछ महीने से वह मेरा मरीज था। उसको दिलकी बीमारी थी। आज साँझ को उसने कई 'सेट' टेनिस खेले थे, फिर ब्रिज, बस हार्टफेल हो गया।"

विनायक चुपचाप साथ हो लिया। सोचा, उसका दिल खराब था। दुनिया पागल तो नहीं हो गई है ! गलेपर जरूर उँगलियों के निशान होंगे।

"चलो।" डाक्टर बोला।

मकान के पास पहुँच कर दोनों एक कमरे में चले गये। अब डाक्टर बोला, "मुझे कई मरीज देखने हैं। तुम अपने दोस्त का ·····!"

डाक्टर चला गया। विनायक ने दरवाजा बन्द कर लिया। चादर उठाई, हमीद चुपचाप सोया— चेहरे पर हल्की मुस्कान थी। वहाँ विश्वास का भाव था, फिर वह मौत······ ?

उसने पास जाकर उसे छुआ, ठंढा, भारी डर लगा; फिर उसके गले को देखा, उँगलियों के निशान नहीं थे। कहीं भी खून का सन्देह नहीं होता था।

विनायक ने सोचा, वही गलत था। हमीद न्याय को खूब समझता था।

एक बार उसने जेब से जहर की शीशी निकाली, आखिरी चुम्बन हमीद का लेने झुका, हमीद कितना शान्त था। कर्तव्य-वश निश्चित लेटा हुआ जान पड़ा।

उसे अपनी भूल ज्ञात हो गई। शीशी फेंक दी।

दरवाजा खोल बाहर निकला। बहुत लोग जमा थे। चिल्लाकर वह बोला, "मैं खूनी हूँ!"

वह कौन ?

दार्शनिक बन, जीवन की विवेचना करना आसान काम नहीं है। शरीर नष्ट हो जाता है। कारण-शरीर और स्थूल-शरीर फिर भी इसी दुनिया में डोलता रहेगा। यह विश्वास न जाने कब से चला आ रहा है। वह कारण-शरीर या आत्मा, स्थूल-शरीर आदि—अर्थात् शारीरिक पाँच तत्वों के बाद,

सूक्ष्म पाँच तत्त्व, शरीर के मिट जाने के बाद बाकी बचे रहते हैं। वह कभी खतम नहीं होते। ईर्ष्या, क्रोध तक उनके साथ-साथ जीवित रहते हैं। सब से आश्चर्य तो यह है, स्थूल-शरीर जिस रूप को चाहे धारण कर लेता है। उसमें स्पर्श करने की ताकत होती है। हम उसे महसूस कर सकते हैं। सिर्फ देखना हमारी शक्ति के बाहर है। हम यह सब किसी-न-किसी रूप में मानते चले आये हैं। वेदान्त यही सिखलाया है कि कई-कई आत्मायें अतृप्त तृष्णा की वजह, भूत-प्रेत योनि में डोला करती हैं। उनकी कुछ चाहना होती है। उस सबको जान लेना साधारण बात नहीं है। वे तो सहज ही भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं। जो चाहेंगे, बनेंगे। इन्सान आश्चर्य में उस सब पर दंग रह जाता है। यह निरा पागलपन होता, हम इसे बिसार देते। वास्तव में जो सच है, उससे इन्कार नहीं कर सकते हैं। अपने ज्ञान पर अविश्वास करें, यह नहीं होगा। कुछ ऐसी धारणायें पुरातन काल से चली आ रही हैं। हम उनको मानते चले आते हैं। कारण कि इस तरह की बातें, सब के साथ-साथ हम कुछ गढ़ लेते हैं। वह आदत पड़ गयी है। अब सब सही मालूम पड़ता है। हम खुद उसको बनाकर डरते हैं। वैसे, वह आत्मा इन्सान को दुख नहीं पहुँचाती है। उसका ध्येय हमको परेशान करना नहीं होता। गिनती की कुछ दुष्ट आत्मायें होती हैं, और सब तो भली। उनका कोई कर्तव्य अधूरा रह जाता है, जिसे कि कारण-शरीर पूरा करना चाहता है। इसी लिए वे दुनिया के चारों ओर वायुमण्डल में चक्कर काटा करती हैं। ये अवसर की ताक में रहती हैं कि मौका मिलते ही अपने सिद्धान्त को निभा कर, कहीं और जगह जीवन ले लें। उनको भटकना पसन्द नहीं है। इस सबसे बड़ा कष्ट होता है। उनके भावना होती है। वे हर एक बात को समझ, दुःख मोल लेने के आदी बन जाते हैं। किसी तरह हो, हम उन सबको झूठा व्यापार कह, भुला नहीं सकते हैं। नियति, कर्ता और उससे सम्बन्धित घटनाओं को आदमी कितना ही समझ लेना चाहे, थाह नहीं मिलती है। यहीं आदमी अपने को बेबस और मजबूर पाता है।

तो, वह लड़की क्या मैंने एक अर्से से नहीं देखी थी। नाम उसका नहीं जानता। नाम रख लेना न जाने समाज में क्यों जारी है। वह लड़की थी

कहकर ही क्या समूची वह आगे नहीं आ जाती है। लड़की! क्यों, उसकी सूरत लड़कियों की तरह लुभावनी थी और उसी तरह आकर्षक कपड़े पहनना उसने अनजाने सीख लिया था। वह नारी की तरह ही चंचल थी। नारी के गुण-अवगुण तो गिने जा सकते हैं। वह कमी वेशी में हर एक लड़की में पाये जावेंगे। तब लड़की सिर्फ लड़की है। उसका नाम रख, अपना निज-सा एक को साबित करना व्यर्थ का ढकोसला है। यह लड़कियाँ, लड़कियों की तरह रहती हैं। बचपन में छोटे-छोटे फ्राक पहनेंगी—चौड़े-चौड़े गरारे पहनने का रिवाज आज चालू नहीं है। वैसे सलवार पहनती हैं। यह तो मुल्क की चाल पर निर्भर रहता है। आगे एक दिन जम्पर, कुरता. चितकबरी धोतियाँ व रंगीन कपड़े पहनने की इनकी रुचि हो जाती है। यह जवानी का तकाजा है। फिर शादी हो जायेगी। माँ बन जाना, गृहस्थी का भार निभाना, यह सब कुछ खूबी से जानती हैं। यही सँभालना कुदरती सीख है। इनकी जिन्दगी उन कीड़ों की तरह रंग बदलती है—जो बरसात में हरा रंग, जाड़ों में कुछ पीला-पीला, बसन्त में एकदम पीला और गर्मियों में सूखी जमीन वाला रंग पा जाते हैं। इन कीड़ों की हिफाजत करने को नियति ने यह नियामत सौंपी है। अन्यथा एक मौसम के बाद, वे जीवित नहीं रह सकते थे। यह लड़कियाँ उसी तरह, एक सीमित नियमित जीवन में प्रवेश करती हैं। जहाँ चारों ओर से पुरुष-समाज ने कायदे-कानूनों का बाड़ा लगा दिया है। अब उनको जीवन खूब पसन्द है। वे उसके प्रति कोई विद्रोही भावनायें नहीं रखती हैं। उनका हाल हमेशा यही रहेगा। पुरुष तो है उच्छृङ्खल प्रकृति का, वह अपने दिल का बादशाह है। कुछ नहीं होगा, आवारा बन सकता है। उसके लिए कोई खास रुकावट नहीं। वह सुभीता और सहूलियत बरतना जानता है। इस तरह, यह लड़कियों का अपमान नहीं है। उच्छृङ्खल जीवन, अनुमान और अनुसन्धान का जीवन है। नारी कोमल अधिक है। उसका वह गुण न होता, यह पुरुष ठीक-ठीक नहीं चलते। वह कितना ही कठोर और फौलाद का कलेजा रख लें, नारी-अनुभूति के आगे पिघल जाते हैं। तब, वह नारी हुकूमत करती है। मार्ग-प्रदर्शिका

का काम अपने हाथों में ले, आदमी को ठीक-ठीक रास्ता सुझाती है। इसी तरह समझौता रोज गृहस्थी में चलता है, और दुनिया के भीतर स्थापित गृहस्थों में ज्यादा झगड़ा नहीं उठता।

लेकिन उस लड़की से जान-पहचान नहीं थी। उसे दूर से कभी टकटकी लगा देखता था। वह न जाने क्यों मेरे आगे परदा बरतना भूल जाती थी। लापरवाही में अपनी सूनी आँखों से अपने बंगले के चारों ओर देखती, अनमनी-अनमनी घूमती रहेगी। कभी तो अपना आंचल सिर हिला कर फेंक देती थी, ताकि मैं उसे खूब देख लूं। फिर वह घूमती रहेगी या गाय के आगे जाकर खड़ी होगी। ग्वाला गाय दुहता था। वह खड़ी-खड़ी देखा करेगी। गाय की काली पूंछवाली सुफेद बाछी थी। वह उसे प्यार करेगी। बाछी छूटकर उछल-कूद करती है! वह खुश होगी, बाछी को देखेगी, फिर कभी-कभी मेरी ओर भी। वह क्या बात थी? पहले-पहल मैंने परवाह नहीं की। सोचा कि होगी कोई? हजारों की तादाद में लड़कियाँ दुनिया में फैली हैं। यदि राह चलते हर एक से उलझने की कोशिश की जावे, तब आदमी निभ लिया। ऐसा हाल ठीक नहीं होता है। व्यर्थ का झगड़ा खरीद कर उसकी दूकानदारी का भार उठाने में टोटा ही रहता है। तब भी मन में कभी-कभी कुतूहल उठता है। कुछ असाधारण लड़कियाँ इसी दुनिया में हैं। अकारण उन पर निगाह न जाने क्यों पड़ जाती है। उनकी पहली दृष्टि का असर एक अज्ञेय गुदगुदी दिल में पैदा कर देता है। उसके भीतर कोई कलुषित भावना नहीं होती! यों, उस लड़की के प्रभाव से हम अपने को अलग नहीं हटा सकते हैं। जानकर कि उससे आगे कोई मतलब नहीं रहेगा, फिलहाल उसके जीवन की छान-बीन करने की फिक्र हो जाता है। वह कैसी भावना है? यह भावुकता नहीं। भावुकता निश्चित नहीं होती। भावना तो उस रंगीन चिड़िया की तरह होती है, जो कभी जरा कन्धे पर बैठ, फिर खुद ही उड़ जाती है। वह क्यों बैठी, और कैसे उड़ गयी, इस पर आदमी सोचता-सोचता कितना ही उलझ जावे, किसी नतीजे पर नहीं पहुँचता है। इस सब धन्धे को बेकार समझ कर आदमी भूलना नहीं जानता। भावना न हो, दुःख और पीड़ा उदित नहीं होगी। बिना

इसके क्या इन्सान का विद्रोह नहीं जागता है। तभी उसमें संघर्ष करने का सवाल उठता है। वह अपने को सबल गिन, खड़ा हो, जिन्दगी में हारना नहीं चाहता है। वह लड़ेगा—लड़ेगा। हर तरह अपने को तैयार पाता है। इसको तथ्यहीन कह कर ठुकराया नहीं जा सकता है।

उस शहर के अस्तित्व में चन्द महीने, अपने एक रिश्तेदार के यहाँ पड़ा पड़ा काट रहा था। दिन भर मस्ती के साथ पड़ा रहना। सांझ को घूमने दूर-दूर खेतों की ओर बढ़ जाता। साधारण दर्जे का शहर, आमोद-प्रमोद का कोई साधन नहीं; न सिनेमा था, न अपना कोई यार-दोस्त। ऐसी अवस्था में आदमी, अकेला-अकेला ऊब जाता है। लेकिन मजबूरी के आगे अपना कौन सा साधन हथियार बनाया जावे। इसी लिए चुपचाप रह, अपने पर दलील करनी ठीक नहीं लगती है। आदमी अपने को बहुत कमजोर साबित करे, वह अपनी आत्मा को मिटा देना होगा। तब आदमी बेकार-बेकार अपने को पाता है। बरगद के पेड़ के उस मोटे तने की तरह जिस पर एक ओर से दीमक अपनी बाबी बना लेते हैं, उसकी कुछ टहनियाँ सूख रही हैं। तने की छाल में सिर्फ प्राण हैं, बाकी में, मिट्टी का एक ऊँचा स्तूप-सा खड़ा होता जाता है। आदमी कुढ़-कुढ़कर इसी तरह अपने को मिटा डालता है; मैं तो इतना डरपोक नहीं। अपने को जिन्दा रखने का शौक है। इसीलिए हर तरह अपना दिल बहला लिया करता हूँ। बिना किसी स्वार्थ के अपने को, अपनी आँखों में कम करना नहीं चाहता। कुछ नहीं होगा, बढ़िया सूट पहना करता हूँ। टाई लगेगी। फेल्ट हैट सिर पर डाटा जाता है। चेहरे को हमेशा दाढ़ी-मोछों से सफाचट रखता हूँ। चिकने गालों पर क्रीम मला जाता है। साँझ को हाथ पर छोटा-पतला, चमड़ा मढ़ा हुआ रूल घुमाता-घुमाता दूर घूमने निकल जाता हूँ। कभी दिल में ख्याल उठता है, कौन इस शहर में मुझे देखेगा। तब क्या इसीलिये यह सब ठाट-बाट है कि 'कोई' मुझे देख ले। तो मैं बड़ा स्वार्थी हूँ। वैसे आस पास कई बंगले हैं। उनसे भला अपना क्या मतलब है? मेरी किसी परिवार से जान-पहचान नहीं, न मैंने कभी जोड़ लेने की कोशिश की। उधर से गुजरते समय लड़कियों को बैडमिंटन खेलते देखता, किसी बंगले से

हारमोनियम की सुरीली आवाज कानों में पड़ती। कहीं रेडियो के प्रोग्राम की धर-घर-घर भारी आवाज पाता था। वहाँ से युवतियों की मीठी हंसी की आवाज हथौड़े की खट-खटकी तरह दिल पर चोट करती थी। मैं उधर देखना पसन्द नहीं करता। सच ही देखता नहीं हूं। आगे-आगे बढ़ जाता हूँ। मुझे घूमना है, न कि कदम-कदम पर जरा-जरा बातों से रुक जाना। यह व्यर्थ का परहेज ही हो, मैं बरतना बखूबी जानता हूँ। अपना-अपना खयाल है। मैं उसके लिये दुनिया-भर के लोगों की ओर नहीं ताका करता हूँ। मेरी अपनी बात, अपनी ही है। दुनिया से अधिक सरोकार मुझे नहीं।

अनायास उस लड़की को एक दिन देखा था। बहुत बड़ा बंगला, उस पर चारों ओर लोहे के तारों से घिरा, चौड़ा होता था। बंगले से कुछ हटे हुए नौकरों के क्वार्टर हैं। वहीं एक जगह सफेद गाय बँधी रहती है। हाते के एक ओर मका खड़ी है, जिस पर भुट्टे नजर पड़ जाते हैं। बाकी हाते में चरी बोयी गयी है, जो कि काफी उग आयी है। मैंने वहीं देखा कि वह लड़की ऊपर छत पर खड़ी थी। मैंने एक ही दृष्टि में भांपा कि वह चुपचाप न जाने क्यों, दूर-दूर आँखें फाड़-फाड़ कर देख रही है। उसकी निगाह उधर थी; जहाँ कि अभी सूर्य डूब चुका है। वह अस्त व्यस्त खड़ी उधर खाली आँखों से अनिमेष देख रही थी। एक बार उसकी निगाह मुझ पर पड़ी, उसने एक नजर मुझे देखा; फिर वही टकटकी लगाए देखती रही। मैं रुका नहीं। आगे-आगे बढ़ गया। घूमने से लौट कर देखा, वह लड़की छत की मुँडेरी पर बैठी थी। उधर ही उसकी दृष्टि थी। रात पड़ गयी थी। इस छाया को मैं पहचान गया। तब वह वहाँ क्यों बैठी है? यह सवाल मेरे मन में बार-बार उठा। क्या बहुत दुःखी है? वहां कोई सम्पन्न गृहस्थ रहता था, उनकी मोटर थी। वहांकी औरतों को कई बार मैं ने सज-धज-कर मोटर में घूमने जाते देखा है। उनका बहुत वैभव था। तब वह लड़की कौन है? वह उन्नीस-बीस साल की लगती थी। क्या उसकी शादी हो गयी है या वह विधवा है। उस डूबते सूर्य से क्या पाना चाहती है। यदि उसके दिल में उचाट है, इस तरह वह मिटेगा नहीं। यह तो दिल की बेकली को और बढ़ा देता है। वह दुःखी है। उसे इस

तरह एकान्त में और दुःख नहीं बटोरना चाहिए। खाली मन तो अक्सर ज़रा-सी आँच से पिघल जाता है। वह क्यों नहीं अपने साथ की औरतों के साथ रेडियो के पास बैठ जाती है। वह दिल बहलाने का बुरा साधन नहीं। अपने को शून्य साबित करना हितकर नहीं होता। वह तब किधर बढ़ रही थी। वह सूर्य रोजाना डूबता है। वह उससे अपनी तुलना नहीं कर सकती है। उस शक्ति के साथ-साथ, अपना जीवन किसी अज्ञात को सौंप देना बेकार साबित होता है। उसे हर हालत में इस बात को विवेक के साथ हटा देना चाहिए। इस तरह छत पर खड़े होकर डूबते सूर्य से रात पड़ने तक, वहीं उस विन्दु पर देखते रहना—यह व्यवस्था शुभ नहीं लगी।

मैंने देखा, रोजाना वही-वही हाल! मैं अचरज में रह गया। यह जरूर गलत था कि उस लड़की के लिए, मेरे दिल में मोह पैदा हो गया; मैंने खुद उसे मिटाने की कोशिश नहीं की। मैं इस रोग का इलाज नहीं जानता था। मैंने अपने में आधी-आधी रात उस लड़की के बारे में छानबीन करते-करते काटी। कोई नतीजा नहीं हुआ। कुछ नहीं पा सका। इधर-उधर पूछ-ताछकर लोगों का सन्देह बढ़ाना जंचा नहीं। हर एक दुनिया में राय जाहिर करता है। आदमी विवेचना वाला व्यापार सीख कर जरा-जरा बातों को तुफैल बना, खड़ा कर देता है। आदमी से इसीलिए मुझे बहुत डर लगता है। हरएक सभ्य आदमी का यही हाल है। उसके आगे खड़े होकर, ऐसे सवालों का जवाब सुन और सह लेने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। तब अपने ही से किसी बात का निश्चय नहीं हो सकता है। एक आदमी तो दूसरे पर निर्भर रहता है। मैं अकेले-अकेले कितनी बातें सोचा करूँ? अपने में उस बेचैन पगली लड़की का भार अनजाने ले लेने के बाद, दिल में तसल्ली न जाने क्यों नहीं होती है। खुद उससे मिल कर बातें पूछ लेना साध्य नहीं था। दुनिया में हर एक लड़की की अपनी-अपनी पीड़ा है। इस व्यापक संसार में कितने-कितने लोगों से वास्ता जोड़, सम्बन्ध स्थापित किया जाय? वह रोज कई-कई बार क्षितिज से आँखें हटा मुझे देख लेती थी। उन फैलायी आँखों के भीतर पैठने वाली तीक्ष्ण रेखा, मेरी आँखों से कभी नहीं छू सकी। मैं तो हमेशा अपनी आँखों

को बुझी रखता हूँ। उनमें बाहरी ज्योति का लगाव मैंने कभी रखना नहीं चाहा। वही एक सफेद बुन्दों वाली साड़ी, एक रंगीन-सा जम्पर, वह हमेशा एक-सा कपड़ा पहना करती थी। कहीं बनावटी बनाव-शृंगार नहीं था, चेहरे पर वही एक रूखापन मिला, जिसमें कोई रद्दोबदल कभी नहीं देख पड़ती था। वह उसकी दिनचर्या ही थी। मेरे घूमने जाते-जाते, सारे वक्त वह एक जगह उसी तरह मेरे दिल में खड़ी रहती थी। जैसे कि एक 'गूँगी स्टैचू' मैंने पायी हो। जैसे कि मैं उसे कीमती वस्तु की तरह दिल में छुपाये रखना चाहता हूँ। उस मूक खाक से मैंने अधिक जानकारी हासिल करनी नहीं चाही। मैं उसके लिए एक नयी पीड़ा दिल में पैदा करना नहीं चाहता था। न उसकी उन फीकी दृष्टियों के लिए मैंने घूमने जाते अपनी चाल कम की। हाँ, बार-बार जब तक वह दीख पड़ती थी, मैं पीछे मुड़-मुड़ कर असमञ्जस के साथ उसे बहुत बार देख लिया करता था। वह उसी तरह जाते खड़ी मिलती थी और लौटने पर मैं उसे बैठी पाता। कुछ फर्क नहीं मिला। अब वह खास उत्साह व नयी प्रेरणा पैदा करने वाली चीज नहीं रह गयी थी।

एक दिन की बात है, मैंने देखा कि छत खाली थी। मैं आश्चर्य में रह गया, तब ही देखा वह बंगले के नीचे वाले दरवाजे से आयी। कुछ देर दरवाजे की आड़ में खड़ी रही, जैसे कि मेरी आंखों की पकड़ में आने से सङ्कोच बरत रही हो। अब आगे बढ़, फिर गाय का दुहना देखने लगी। बाछी को पुचकारा, उत्साह से मेरी ओर देखा। उन आंखों के भीतर मैंने पाया कि कोई चीज भले ही न पहचानूं, वह लड़की अच्छी तरह जानती है। तब क्या वह उसी को ढूंढ़ रही थी। उसी की चाह मे, उसी तरह छत पर टहलती थी। वह क्या तैर रहा था? यह कैसी विचित्र लड़की है। एक बार भारी अँगड़ाई लेकर उसने अपने दोनों हाथों की हथेलियां उँगलियों के साथ जोड़, अपने कन्धे पर टिकायीं। क्षण-भर उसी अवस्था मे खड़ी रह, फिर उसी तरह टहलने लगी। मैं अवाक् रह गया। यह कैसा प्रदर्शन था। वह धीरे-धीरे चरी के खेत के पास तक पहुँची। मैंने मुड़कर देखा, उसकी आँखें पीछा करती लगीं। वह अज्ञात तैरती चीज न जाने क्यों भारी भय पैदा कर देती है। मेरा हृदय बहुत उद्वेलित

हो उठा। मैंने लौट कर देखा, वहीं अँधियारे में चरी के खेतों के बीच, जहाँ मै खड़ी छोड़ गया था, वह सड़क की ओर देख रही थी। इस कर्तव्य पर मैंने बहुत सोचा। कुछ निर्धारित न कर सका। आगे और दिनों, वह उसी तरह दरवाजे की आड़ में खड़ो रहती थी। वही-वही प्रदर्शन होता! कभी तो मैं भौंचक्का रह जाता था। नारी-जीवन समझना दुरूह बात है। वहाँ पैठना असम्भव लगता है। कोई मेरे भीतर बोलने लगा, यह कुछ नहीं, अतृप्त काम की वजह से है। यह निर्लज्जा, वह रूखापन, यह सब उसके अलावा और कुछ नहीं। वही वहम पैदा होता चला गया। वह आँखों के भीतर तैरतो वस्तु समझ में नहीं आयी। हर तरह अपने में समाधान बात का किया, मैं किसी निर्णय पर पहुँच नहीं सका। वह सब जैसे कि असाधारण बात थी। वहाँ तक हमारी-भीतरी बुद्धि की पहुँच कब है? उस लड़की के लिए सद्भावनायें थीं। उसके लिए दिल में आदर पैदा होता चला गया। उस सबके बाद बार-बार मैं इसको समझ लेने का अपना स्वार्थ भुला नहीं सकता था। मैं उसी तरह घूमने जाता। वह चरी के खेत के बीच खड़ी हो, मुझे ताका करती थी। कई बार मैंने सोचा, वह मुझसे कुछ कहना चाहती है। तभी अपने मन में ग्लानि उठती कि मैं यह सब बात गढ़ रहा हूँ। उसका मुझसे क्या मतलब है। एक बार वह उस चरी की खड़ी फसल को चीर कर, जैसे कि अब मुझ तक पहुँचने वाली थी। फिर न जाने क्या सोच ठिठुर कर खड़ी हो गयी। उसके सारे चेहरे पर खुद ही लज्जा फैल गई थी। वह नीचे जमीन पर कुछ ढूँढ़ती, आँखें वहीं पसारने लगी। वहाँ क्या देख पड़ा होगा? घने डण्ठल थे, नीचे तक दृष्टि पहुँच जाना, मुमकिन बात नहीं थी। जब मैं लौटकर आया, देखा कि वह उसी जगह, वैसी ही खड़ी थी। मुझे देख जरा हिली और बँगले की ओर बढ़ी चली गयी। जल्दी-जल्दी चलने में, चरी के डण्ठल टूट-टूट रहे थे। आगे एक दिन वह लोहे के तारों के पास तक, सड़क की ओर आयी। जब मैं घूमने से लौटा तब तक वह वैसी ही खड़ी थी। मुझे देखकर चौंकी और मन्थर गति से उन चरी के डण्ठलों को चीरती हुई आगे बढ़ गयी।

तब इस दुनिया के धन्धे क्या हैं ? वह लड़की क्या चाहती होगी ? इस तरह एक लड़की के बारे में क्या सोचा-विचारा जाय। उसको देखकर, क्या अनुमान लगाया जा सकता था। मैं जानता था कि वह मुझ पर बहुत प्रभाव डालती आ रही है। कभी-कभी मैं सोचता कि अब कल न जाने क्या होगा। आखिर वह क्या चाहती है। उसका पहनावा बहुत साधारण था। कान के बुन्दे और गले का लाकेट बहुत कीमती लगा। हाथों पर डाइमण्ड-कट की चूड़ियाँ थीं। सारा चेहरा अथाह गम्भीर मिला। उसे देखकर कुछ निर्णय देना कठिन था। उसकी इस सारी हरकत में कहीं अश्लीलता नहीं मिली। तो भी, इस तरह पीछा करना, यह सब ! उस लड़की के बारे में बार-बार जाला बुनता-बुनता, उसी में फँस जाता था। अपने में कहता, मैं हूँ मूर्ख, यह सब धोखा है—धोखा है ! इस लड़की से मुझे क्या मतलब है ? जल्दी ही न जाने कब इस शहर को छोड़कर चला जाऊँगा। यह घटना जीवन में कभी चमकने वाली नहीं है। तब क्या इधर घूमना ही जरूरी होगा। अब नहीं जाऊँगा, उधर। यही फैसला दे दिया। तब कुछ दिन उधर नहीं गया। लेकिन दिल को उदासी घेरने लगती थी। मन न जाने क्यों भारी हो जाता। मैं तड़पने लगता था। जैसे कि अपने ऊपर यह बन्धन डालने का हक मुझे नहीं। मुझे जाना चाहिए—जाना चाहिए। यह मेरे अपने अधिकारों का प्रश्न नहीं, मेरी इच्छा है। अपने मन को खराब करने का मुझे कुछ अधिकार नहीं। आगे जिन्दगी में इस तरह के कितने ही झंझट खड़े होंगे। कब तक मैं भागता-भागता रहूँगा। मैं अपने को लाचार व्यर्थ साबित करने का आदी हो गया हूँ। तो उलझन कब उठती थी।

एक पूरा सप्ताह अपने भीतर, डांवाडोल हालत में कट गया। कितनी ही दलील करता था, लाचार फिर बैठ जाता। और सड़कें थी, वहाँ चारों ओर उदासी फैली मिलती। मैं अपने को अधिक रोके रखने में असमर्थ रहा। आठवें रोज उधर ही निकल पड़ा। वह लड़की तो नहीं दीख पड़ी। बार-बार उधर देखा। कुछ नहीं। वह बँगला, चरी का खेत, सब कुछ उसी तरह था। गाय, ग्वाला, बाछी—वहीं थे। मैं कुछ सोच नहीं सका। यह बात

क्या थी? किससे पूछताछ करता। अपने पिछले व्यवहार से खिन्न हो, चुपचाप लौट आया। अपनी शक्ति का घमंड चूर-चूर हो गया। जैसे कि यह मैंने अपने जीवन की अवहेलना कर डाली थी। और जीवन है ही क्या? रोज फिर भी जाता ही रहा। वह नहीं दीख पड़ती थी। मैं धीरे-धीरे, उस सब बात को भूलता चला गया। कुछ हो वह याद धुंधली पड़ती चली गयी, जिसको कभी उठाकर, मैंने संवार लेने की कोशिश नहीं की। कई बार मैंने अपने को धिक्कारा कि क्यों पहले ढील देकर, मैंने अब अपने को इस तरह खींच लिया था। उस लड़की ने न जाने क्या सोचा होगा। भले ही वह मेरा कोई 'रोमान्स' नहीं था। इस तरह की बातों को जमा कर करके मैं अपने दिल को कमजोर बनाने का आदी नहीं हूँ।

पूरा महीना गुजर गया। कुछ और दिन बीत गए। अंधियारी बरसाती रात थी। मैं चुपचार अपने बंगले के बरामदे में सो रहा था। न जाने कितनी रात कट चुकी थी। हठात् लगा कि किसी ने मुझे स्पर्श किया है। फिर कोई हिलाने, जगाने लगा। मैं जाग पड़ा। अभी नींद आँखों में भरी ही थी। तभी एक खिलखिलाहट सुनी! किसी नारी का स्वर था। अचरज में मैंने देखा कि वही लड़की मेरे पायताने खड़ी थी। मैं भौचक्का रह गया! आँखें फाड़-फाड़ कर उसे देखा। वही थी—वही थी। उसी सुफेद धोती में। मैं अच्छी तरह उन बुन्दों और लाकेट को पहचानता था। वह क्या खेल था? मैं क्या अब करूँ। संभलकर उठ बैठा। चारों ओर अन्धकार—घना अंधियारा, बरसाती झड़ी लगी थी। कभी-कभी बरसाती हवा के झोंके चले। वह उसी तरह मूक खड़ी थी। मैं कुछ समझ नहीं सका। उसके कपड़े कहीं भीगे हुए नहीं थे। शायद वह पानी बरसने से पहले पहुँच गयी थी और तबसे वहीं खड़ी है। उसका वह मृदुल स्पर्श एक गुदगुदी अभी तक दिल में पैदा कर रहा था। मैं कुछ पूछूं कि उसने ओठों पर उँगली रखकर मना किया। एकाएक फिर उसने जम्पर उठाया। नग्न नारी का पेट दीखने लगा। कुछ झिझक उठी। समझ गया कि वह पागल है—जरूर पागल है। बेकार मैं मनको दौड़ाया करता था। अन्यथा वह इतनी रात में क्यों चली आती।

दुनिया यदि देख ले, एक बड़ा अपवाद फैल जायेगा। वह इस तरह क्या हो रहा था? इसे घर पहुँचाना ही ठीक होगा। इसके घरवाले बड़े लापरवाह हैं, इतनी देख-भाल तक नहीं करते। मरीज की ठीक-ठीक हिफाजत होनी चाहिए। वह कितनी सुस्त लगती है। फिर भी मैं कुछ नहीं कह सका। मेरी आवाज बन्द-सी हो गयी थी। तभी मैंने देखा, उसने अपना पेट चीर डाला है। मैंने आँते और खून निकलता देखा। मैं बुत की तरह खड़ा हो गया। वह तो बच्चेदानी को हाथों में तोल रही थी। मैं सच ही सब कुछ देख रहा था। और बच्चेदानी को चीर कर, उसने एक मुलायम सा बच्चा निकाल कर मेरे हाथों में दे दिया। मैं थर-थर भय से कांपने लगा। बच्चा मेरे हाथों में था। मैंने देखा, देखा कि वह वहीं ढेर होकर गिर पड़ी। मैं कुछ नहीं सोच सका। आँखें बन्द हो गयी थीं। वह बच्चा अब तक मेरे हाथों पर था। मेरा गला घुटने लगा। मैं शायद बेहोश हो गया था।

कुछ देर के बाद, कोठी का चक्कर लगाते हुए चोकीदार ने मुझे जगाया था। मेरे माथे से खून बह रहा था। मैंने होश में आते ही चारों ओर देखा। घर के लोग मुझे आश्चर्य से घूर रहे थे। मैं उन से कुछ नहीं कह सका। जो कुछ मैंने देखा, वह सब अब पहेली-सा लगा। उसका कोई निशान वहाँ नहीं था। क्या वह सब बात सच थी! मैं खुद अविश्वास करने की कोशिश करता। बड़ी देर तक मुझे नींद नहीं आयी। भारी भय दिल को ढक चुका था। सुबह बड़ी देर से मेरी नींद टूटी। वैसी ही बरसात लगी थी। मैं बहुत अस्वस्थ था।

दिन को चुपचाप बैठा अखबार पढ़ रहा था। बूढ़ा चोकीदार आकर बोला, "बाबूजी, अनर्थ हो गया।"

"क्या रे?"

"......की लड़की कल रात कुएँ में कूदकर मर गयी।"

"हूँ!"

"बड़े घरों की बात ठहरी। शादी हुई नहीं थी। जवान लड़की, पेट में........।"

अधिक मैं वह सब बात नहीं सुन सका। विचार किया कि वह गर्भवती लड़की मर गयी। क्या कारण-शरीर मोह में इसी दुनिया में डोलता रहा है। उसकी दिव्य दृष्टि होती है। वह आत्मा क्यों भटकती रही होगी। इस तरह मेरे आगे बच्चा………। मैं उसको ठीक-ठीक तो पहचान गया था कि वह कौन थी!

धुत

धुत की और हमारी एक दुनिया है, धुत कहने में एक आनन्द आता है। धुत सुनने में एक गुदगुदी होती है। धुत पढ़ने से एक तरंग उठती है. धुत मेरे जीवन की भावुकता है। उसकी झिड़की मेरे जीवन की सनक है. उसकी मुस्कान मेरे जीवन का सत्य और उसका रूठना मेरे जीवन की कला है। धुत जितनी भी अपने में सकुची-सिमटी रहती है—वह सब मेरा अपना है।

बात-बात में धुत! जरा झगड़ा हुआ—धुत! कुछ बात पूछो—धुत!

"सिनेमा चलेंगे?"

"धुत, वहाँ अच्छा फिल्म नहीं है, यहीं रहेंगे। ग्रामोफोन सुनेंगे।"

और ग्रामोफोन बजाने लगती हैं वह।

'प्रेम कहानी सखी—प्रेम कहानी।'

उसकी बात कट नहीं सकती। उसका कहना मानना पड़ेगा।

फिर कहती, "प्रेम, प्रेम, प्रेम…! प्रेम कुछ है क्या?"

मैं प्रेम पर अपने अधिकार दबाए रखता, और वह बात कहती चलती, "तुम भी प्रेम करते हो किसी को……?"

मैं इसका उत्तर नहीं देता।

"देखो, सुनते हो या नहीं……।"

इसका उत्तर कुछ हो तो दिया जाता।

"सुनो जी!" ग्रामोफोन का रिकार्ड उठ गया। हाथ झकोरा गया। आँखें में आँखें गड़ा, हल्की छेड़ती मुस्कान से पूछा, "कहो प्रेम क्या है?"

आखिर इसका उत्तर क्या हो ?

फिर-फिर शरारत, पूछा, "प्रेम कुछ है क्या ?"

प्रश्न का उत्तर प्रश्न ही होगा।

समीप लग, खिल-खिलाती, फिर वक्षस्थल से अँगुली लगा पूछती, "देखो यह क्या है ?"

"दिल……" उत्तर देना ही था, "धुत यहीं तो प्रेम होता है।" सवालमय उत्तर के हल कर लिया जाता है। मानो आगे कुछ नहीं पाना है। जरा अँगड़ाई ले, अपने सवाल का ध्यान आता, "प्रेम नहीं जानते ?"

फिर वही भूला प्रश्न। उत्तर क्या हो ?

"प्रेम सीखोगे।"

वही-वही सवाल !

और जरा समीप, आ ओठों को छू, चूम, समीप से समीप आ, फिर छिटक, दूर हट, बात आती, "चलो जी !" और चुपचाप फिर कुछ सोच अनायास सी, "धुत, यही तो प्रेम है—नहीं जानते जी ?"

और आगे की बात—

उस दिन कहने लगीं, "तुम बड़े वैसे हो…… ?"

"कैसे ?……"

"उस दिन क्या वादा किया था ?"

"कौन सा ?"

"बस भूल गये ?……"

मैं माथा खुजलाता-खुजलाता अपनी भूल की दवा टटोलने लगा !

"तुम बड़े झूठे हो ! तुमसे नहीं बोलूँगी अब।"

बस फिर क्या था। वह रूठ गईं, मनाया, बुझाया; पर फिर वह बोली नहीं। अपने को अपने में ही समाए रही।

—और वह नारी है ! नारी रूपक…जीवन का कुमारीपन बिछाए, नारी की परिभाषा और व्याख्या में सम्पूर्ण रली हुई। अपने जीवन को नारी की सीमा में छिपाए—नारी से नारी तक सीमित। समित जगत की गौणता से

हटी; प्रधानता की विभूति मात्रा ! वह है—नारी ही; नारी बंधन में, नारी ग्रन्थि में, नारी की गिनती में······।

वह कुमारी नहीं, कुमारी वह अपने को नहीं गिनती, अवस्था होगी सतरह-अठारह साल की। अल्हड़ता की रंगीन चदरिया ओढ़े, भावुकता को अपने से विखेरती, वह ज़रा जब मुस्कराती है, तो लगता है कि जीवन सत्य की मंजिल पर है। रंगीन नीली-नीली साड़ी ओढ़े, हाथों में सोने की चूड़ियाँ डाले, गले में सोने का लॉकेट झुलाते, शृंगार कर; जब वह ज़रा मस्ती से चूर पूछती है, "गाना सुनोगे ? अच्छा बोलो क्या गाऊँ··· ?" तो दिल करता है वहीं पर ठहर जाय। मन वहीं पर जीवन का चार विराम बना, कुछ दिन बसेरा कर लेने को करता है। युवती की यौवनता की मस्ती को जब वह बल खाती, अठलाती, खेलती, फक्कड़ लुटाती है, तो वह लगती है पूर्ण उर्वशी सी। कानों के इयरिंग को हल्का झोंका दे, जब वह चलती है, तो लगता है कि संध्या झूम रही है। आँखों की अनुभूति को जीवन-मदिरा से भिगो, जब वह आँख-मिचौनी खेलती हुई, कोई मूक प्रश्न सा पूछती है, तो लगता है—जीवन में कथितता नहीं, सीमा नहीं, बंधन नहीं जो है वह सच-सच ही है। बात-बात में रूठ कर जब मनौती का पाठ सिखलाती है, तो सब भूला सा जान पड़ता है।

उसके भी कुछ गिने-चुने प्रश्न हैं। उस दिन पूछने लगी, "तुम शादी करोगे ?"

"हाँ।"

"किससे—कैसी हो वह ?"

"अभी कुछ सोचा नहीं। हाँ, वह पढ़ी होगी, सुन्दर होगी और—"

"बस शादी करोगे ?"

"और नहीं तो—"

"मैं भी शादी में आऊँगी—सौत को देखने !"

"खूब !"

"ज़रूर आऊँगी। बोलो बुलाओगे ?"

मैं चुप रहा।

"जाने दो नहीं आऊँगी। तुम बड़े चालाक हो?"

और वह रहती है अपनी ही निराली दुनिया में। वहाँ कोई पराया नहीं! सब से बोलती है, सब से खेलती है और सब से हँस भी लेती है। किसी से परदा नहीं, किसी से लाज नहीं और कोई दूर का नहीं। माता की नारी ममता नहीं, कुमारी को सिमेटी शीलता नहीं और पत्नी का प्यार भी नहीं बाँटती है वहाँ। सब कुछ अपना ही है। अपनी ही लज्जा, अपनी ही शीलता और अपना ही प्रेम! वह सत्य में झूठी बनी रहना नहीं जानती, और सत्य की कसौटी पर अपने को आँकती अपनी दूकान की चौकसी करती हुई ग्राहक का पूरा-पूरा खयाल रखती है। जहाँ वह रहती है वहाँ उपेक्षा, स्पर्धा, उत्प्रेक्षा, सब-सब वह पढ़ती है।

वह अपने ही हास्य की डायरी रखती है। एक दिन कहा, "देखो जी! लॉ क्लास में प्रौक्सी चले, चले। यहाँ के स्कूल में माफी गैरहाजरी पर नहीं मिलेगी।"

आगे एक दिन बोली, "अच्छा हुआ परचा बिगड़ गया। पास होकर करते भी क्या?"

एक और प्रश्न उसने किया, "देर से आये तो नहीं आने दूँगी! चले जाया करो अपनी ···के घर।"

"वह तो कहानी है?"

"हूँ।" फिर आगे बोलती रही, "सच जो है, उसमें छिपाना क्या? उसी की कहानी लिखना। मैं अपनी कहानी नहीं लिखाऊँगी।"

"क्यों?"

'कह दिया नहीं लिखाऊँगी।"

"अच्छा न सही।"

"तुम लिख कर क्या करोगे?

"किताब में जावेगी।"

"तो बस लिख देना, धुत बड़ी खराब है, बात-बात में रूठ जाती है।

गाना गाती है, खूब। मनमौजी है, किसी की नहीं मानती। वह उसके घर आता है। न जाने अपने को क्या समझता है, कहता है—कहानी लिखूँगा। न ज़रा शऊर है न बातें करने की तमीज़।

"खूब रही!"

फिर उसने हल्के चपत मार दी, और झगड़ा शुरू हुआ। वह बोली—"अच्छा कहानी लिखना। वह तुम्हीं लिखना—झगड़ा भी उनका होता है। धुत कहती है, वह लिखता है। धुत बोलती है, वह सुनता है। धुत बोलती ही बोलती रह जाती है; वह न जाने क्यों नहीं लिखता। घूरता ही रह जाता है।"

भूल गया उस गिनी तारीख को जो लाल-लाल स्याही में कलेंडर पर लगी थी। उसके घर गया था, दरवाजा बन्द!

खट, खट, खट, खटकाया। दरवाजा फिर भी बन्द का बन्द ही।

खट, खट, खट,......!

अब दरवाजा खुला। नौकरानी आई, कहा, "वह बाहर चली गई है किसी के साथ--अभी-अभी।"

"कहाँ गई है?"

"कुछ मालूम नहीं।"

"कब तक लौटेगी?"

"कुछ कह थोड़े ही गई है!"

वह एक की नहीं—सोचा अपने तक वह सब की है। अपना-सा अधिकार सब को सौंपती है। फिर ईर्षा क्यों हो? दिल में एक कील चुभा रह गया।

पूछा फिर, "कुछ कह गई।"

"नहीं मोटर आई थी। शायद सिनेमा गई है।"

"किसकी मोटर थी?"

"वही जाने।" नौकरानी ने रूखे स्वरमें कहते-कहते दरवाजा बंदकर दिया।

चुपचाप खड़ा का खड़ा ही रह गया। सोचा उससे झगड़ा किस बात का? खुला सौदा है। दस-दस रुपये के चार नोटों पर उसका जीवन टिका है। क्यों किसी पर गुस्सा हुआ जाय? उससे सब खेलते हैं, और वह अपनी

स्वतंत्रता मुख्य मानती है, बाकी सब गौण। फिर भी मन की उलझन नहीं हटी। एक गाँठ सी लगी थी। सुनसान सा लग रहा था।

एकाएक आगे बढ़ा था कि दरवाजा खुला, कोई बोला, "सुनो ?"

उसी का स्वर था। वह अपनी निराली छटा में हँसते-हँसते पास आकर बोली "देखो, खूब ठगाया ?"

मैं असमंजस में ही दिल की खुशी को दिल में दबा कर रह गया।

"मैं सब सुन रही थी—समझे! तुम तो अपने को बड़े होशियार गिनते थे। अब हार गए। चलो अन्दर!"

उसकी हँसी को अपने दिल में संवार कर मैं चुप रहा।

"माना मैं चली जाती तो क्या होता? मेरा क्या है। यही जिन्दगी है। यही रोज का हाल है। सब को खुश रखना पड़ता है। कल एक शादी में जाऊँगी। चार रोज में लौटूँगी। वहाँ जाना ही पड़ेगा। पेशगी रुपया वे लोग दे गये हैं।"

"तो चली जाना।" मैं जरा तन कर सा बोला।

"इसमें गुस्से की क्या बात! एक-एक दिन करके जिन्दगी के तीन साल यों ही कट गये..."

"अच्छा तुझे यह क्या सूझा ?"

"अच्छा तो सूझा मुझे...धुत, तुम्हें खूब ठगाया!"

वह खिल खिलाती हँसी।

वही रात्रि थी। जीवन की उलझी रात्रि। सेकेंड, मिनट, घन्टे चल रहे थे। नारी की कालिमा-शृंगार में वह पुती थी। पास जो था वह खो गया था। जो भूला था उसकी ढूँढ नहीं थी। जो पास था, वहीं तक था सब कुछ। वह खूब अपनी भावुकता में थी। चारों ओर अन्धकार था। पास मेज पर छोटा लैम्प अपने ही प्रभुत्व में लीन था। छोटे-छोटे कीड़े रोशनी में लिपट रहे थे। छत खुली थी। ऊपर आसमान में तारे हँस भर देते थे। सुनसान था। वह पलंग पर बैठी पाँव हिलाती किसी बात में डूबी थी और मैं सब कुछ सुलझा लेना चाहता था।

वह उठी और हँसती-हँसती पास आई। दोनों हाथ पकड़कर झोंका दे बोली, "तुम तो कलाकार हो न ?"

"कौन कहता है ?"

"मैं कहती हूँ। देखो झूठ न बोलो !"

"अच्छा यही सही।"

"तुम कला से प्रेम करते हो ?"

"शायद कुछ कुछ.."

"कला को प्यार करते हो ?"

मैं कुछ समझा नहीं। चुप रहा।

"बोलो ?"

"हां कला को चाहता हूँ। अपनी बात अपने तक रखने का आदी हूँ।"

"अच्छा तुमने माना तो सही। तुम उसी के पास रहो। हमसे मत बोला करो। हमारा क्या ?"

"लेकिन मेरी कला तो तुम हो। साक्षात् सजीव, साकार..."

"यही सही, तुम मुझमें कला कहाँ तक मानते हो ? यह तो एक ढोंग है ! कला में नारी की जो भूख है क्या वही सत्य है ? तुम भूलते हो। तुम झूट बोलते हो। मैं गाती हूँ—वह कला हो। मैं हँसती हूँ, उसमें शायद कला हो। मैं रूठ सकती हूँ, मैं बन सकती हूँ, एक बनावटी हाव-भाव भी मुझ में है—यह हो कला की बात। पर जो उससे आगे है ? जहाँ नारी मसीन हम हैं--वह क्या कला नहीं ? आखिर तुम्हारी कला की क्या परिभाषा है, जब तुम कहते हो कि मुझमें कला है ?"

मैं जरा सोचता बोला, "अच्छा आज तो तुम बड़ा तर्क ले बैठीं। सच यह है कि वेश्या जो नारी है, उसमें हम समाज की एक टूटती हुई सभ्यता पाते हैं। वेश्या में पूर्ण कला है, जो आवरण से जरा ढँकी होने पर दूकान में सौदे के रूप में जब आती है, तो परखी नहीं जा सकती है। वेश्या में जो कला है, वह नारी रूपक उसे छिपाना नहीं जानती। उसे अपनी कला में डर नहीं, भय नहीं। जो है--वह है सम्पूर्ण--बस।"

वह हँस पड़ी और बोली, "बीवी तुम फिर क्यों लाओगे ?"

"अभी कहाँ है ?"

"खूब ! अभी उस दिन तो कहते थे कि शादी करूँगा।"

"शादी—" मैं अटक गया।

"यह झूठी बात नहीं। धोखा होगा, फरेब !"

मैं चुप रह गया।

वह कुछ सोच जरा आगे-आगे आई। बोली—"देखो जी, अब चुप क्यों रह गए ?"

"क्या...?"

"हाँ, अब क्या कहोगे ? हार गए ?"

फिर जरा पास आ, खिलकर मुस्कान के भार से दबी, कुछ हँस कर अल्हड़ता से कहने लगी, "देखो तो मैं हूँ न कितनी सुन्दर ! कौन है और मेरी जैसी ?"

"सुन्दर !" मैं गुनगुनाया।

"सुन्दर ही तो, क्या तुम नहीं देखते हो मुझे ?"

मैंने कुछ नहीं कहा।

"अच्छा तुम्हारी बीबी क्या मुझसे सुन्दर होगी ? क्या होगी ऐसी वह ?"

मैं फिर भी चुप रहा।

"जरूर वह काली-काली होगी ! कहाँ रक्खी है सुन्दर बीबी तुमको। मैं तो भाग से मिल गई !"

फिर हँसी का फुवारा छूटा। मैं उसे देखता, बूझता, भाँपता चुप ही था। उसे पढ़ लेना चाहता था।

"माना वह काली होगी, तब भी आओगे क्या हमारे घर ?"

मैंने कुछ नहीं कहा। चाहा भी नहीं कहना।

"नहीं आओगे न ? जाने दो, मत आना, हमें घाटा थोड़े ही है। तुम सरीखे दर्जनों आयेंगे।"

"चुप रह !" मैंने कह दिया।

"नहीं रहूँगी चुप ! सच तो कहती हूँ। तुम तो गिनती के एक हो। जब जीवन यही है तो गिनती बार-बार कौन गिने ? एक खो जाता है, तब कौन सोचता है उसकी। परेशानी क्यों उठावें हम जी ?"

"फिर झगड़ा करोगी ?"

"हाँ, हाँ, खूब करूँगी। मैं झगड़ा क्यों न करूँ ?"

"चुप !"

"नहीं रहूँगी चुप।"

"चुप !"

"चुप, चुप, यह क्या सीख लिया...? हम किसी के धमकाने से नहीं डरते।"

"चुप रह···"

"चु···प !' वह मुँह बनाने लगी। बड़ी देर तक रुकी नहीं।

"चुप रह," कह, मैंने उसका मुँह हाथ से दबाया।

वह छटपटाती-छटपटाती आखिर अपने को छुड़ा, अलग हट, पलंग पर बैठ गई और कहा, "नहीं बोलेंगे हम किसी से। क्या है हमारा ! झगड़ा नहीं होगा अब।"

मैंने चुपचाप पीछे से उसकी झोंटी खींची। वह उसे छुड़ा कर रूठी सी बोली, "हटो जी, हमें मत छेड़ो···।'

मैंने फिर भी अपने को रोका नहीं। उसकी ठोड़ी उठाई। उसे चूम लिया। वह गंभीर बनी रही। मैंने सोच कर पूछा, "तू रूठ गई है ?"

वह नहीं बोली।

"अच्छा मैं कुछ नहीं कहूँगा।" कह मैं चुपचाप बौगा बन बैठा !

कुछ देर तक वह चुप रही। फिर वह सरकती सी पीछे आई, और नजदीक आहट दबा आई। समीप और·······फिर गले में हाथ डाल आँखों से आँखें मिला बोली, "गुस्से का भूत चढ़ गया है। जब वह नहीं उतरता है तो सिगरेट नहीं मांगता। पान नहीं खाता। कुछ नहीं बोलता, चुप रहना है।" कहती-कहती सिगरेट सुलगा कर, मुँह से लगाकर कहती रही, "भत बड़ा

खराब है। मनाने पर नहीं मानता। बड़ा चालाक है! वक्त पर रूठ जाता है।"

फिर कुछ देर चुप रह, हँसती-हँसती पास आई और बोली, "जो चुप रहेगा वह खराब!" पास ही आकर गुदगुदाने लगी।

हँसी रोकते-रोकते भी रुकी नहीं। मैं हँस पड़ा और वह बोली, "धुत, अब झगड़ा खतम हो गया..."

झगड़ा निपटा, निपटा ही; पर वह निपटे क्यों? फिर वह झगड़ा जिन्दगी को उलझा-सुलझा देता था। एक की हार में मनौतों पर उसकी सीमा थी। वह हार-जीत अपनी एक चीज थी। उसका जरा रूठना—नहीं, वही उसका खिंचाव था। कितनी सीधी, सच्ची नारी थी वह! जीवन के अपनत्व में समाई, वातावरण की संज्ञा में खोई, अपने तक—और उसके बाहर हटी समीप से समीप लग रही थी—बिलकुल समीप। समीप ही तो!

जब उसका नाम पूछा तो उत्तर मिला, नाम में वह अपने को नहीं पाती। नाम माँ की यादगार है, पिता की धरोहर है।

फिर उसे छेड़ कर पूछा, तुमको क्या कहूँ?"

वह कुछ नहीं बोली।

"नाम नहीं बतलाओगी क्या?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं?"

"नहीं बतलाऊँगी। देखो झगड़ा मत किया करो।"

"झगड़ा!"

"फिर कहे देती हूँ कि नहीं बतलाऊँगी तुमको। तुम्हारी जबरदस्ती नहीं।"

"तो मैं कल से नहीं आऊँगा।"

"आओगे—आना पड़ेगा। अपने बस के थोड़े ही हो।"

"नहीं आऊँगा मैं..."

और वह बोली, "धुत, तुम जरूर आओगे।"

"नाम नहीं बतलाओगी?" मैंने उसे झकोरते छू भर लेते कहा।

"धुत, तुम रूठ गये ?"

"अच्छा तुझे क्या कहूँ ?"

"धुत…" वह खिल खिलाई "नहीं है कुछ नाम।"

"तुमको क्या कहूँ ?"

वह लीची छीलते-छीलते बोली, "कुछ नहीं।"

"यह बात !…"

वह लीची छीलती ही रही।

"कुछ तो कहूँ…?"

"नहीं" वह लीची छीलते-छीलते झगड़ने लगी।

"कुछ तो कहना ही है।"

"धुत।"

"बोल न !"

"धुत…"

"धुत, धुत, धुत ! अच्छा तुम धुत ही सही !"

और वह लीची छील कर देते बोली, "लो तुम भी खाओ।"

"धुत !" मैं बोला।

वह कुरसी के पास आ गई, और पास, नजदीक।

"धुत" मैंने दुहराया।

और वह जरा समीप सटी बोली, "गुस्सा तो नहीं हो ?"

"गुस्सा तो नहीं हो" सोचा धुत एक पहेली है। कभी सुलझेगी नहीं। हमेशा एक सी रहेगी।

जिन्दगी से जब थक जाता हूँ और कुछ सूझता नहीं, तभी दिल करता है कहता रहूँ—धुत, धुत, धुत !

—कल सात साल बाद 'धुत' की छोटी बहिन की चिट्ठी मिली, "दीदी को निमोनिया हो गया था। वह मर गई।"

एकाएक आँसू आँखों में छलछला आये; अनायस मुँह से छूटा, "धुत तू मर गई !"

ज्ञानवती (बीबी) बोली, "आज बड़े उदास हो।"
और मैंने कह दिया—"धुत !"

हेम को एक पत्र

प्रिय हेम,

कई बार मैंने चाहा कि तुझे पत्र लिखूँ, फिर भी लिखा नहीं। न जाने क्यों बार-बार डर जाता था कि कहीं तेरी भावुकता के प्रति वह एक कठिन हथियार साबित न हो जाय। आखिर सत्य छिपाया नहीं जा सकता। उसे झूठ गिनाना कोई आसान काम नहीं है। तब आज क्यों चिट्ठी लिखने बैठा हूँ? यह सवाल मैं खुद अपने से पूछ रहा हूं। सही बात यह है कि अब अपनी पिछली भूली यादगारों को अक्सर अपने आगे फैला कर वहाँ कुछ ढूँढ़ा करता हूँ; लेकिन कुछ पाता नहीं हूँ। वह सब इतनी धुंधली पड़ गई हैं कि कुछ ठीक-ठीक पहचान में नहीं आती हैं। बार-बार वहाँ अपनी हेम को मैंने पहचाना है। वह यादगार उसी तरह दूर है, जैसे कि आज तुम मुझसे एक भौगोलिक दूरी पर अलग रहती हो। अपने मन बुझाव कर लेने पर सोचना पड़ता है, यह कैसा सामाजिक न्याय था? यह समाज······! मैं देखा करता हूँ कि हर जगह कमी है। कहीं कुछ—कहीं कुछ। इस युग को मैं आर्थिक दासता के युग से पुकारा करता हूँ, जहाँ व्यक्ति का मूल्य पैसे पर निर्भर है। पैसे वालों पर एक चमक है—वे सिक्कों की तरह चमकते हैं और बाकी सब मटमैले लगते हैं, उनका अस्तित्व नहीं है। समाज तो कानूनी-डकैतियों पर चलता है, अन्यथा अमीर और गरीब के बीच इतनी सामाजिक खाई नहीं होती। तब सब अपने-अपने दायरे में अस्वस्थ हैं। तू अपनी गृहस्थी के झंझटों से बरी नहीं है और मैं? सच यही है कि हर एक मृगतृष्णा के पीछे दौड़ रहा है। अनजान भविष्य पर उम्मेद लगाये रहता है। कल, वह भविष्य? जैसे

कि कोरे कागज की नाव पर व्यर्थ एक नक्शा बनाया जा रहा है। कागज की नाव पर वक्त की मोटी पेन्सिल अपने आप लकीरें खींचेंगी। यही एक सन्तोष है। मन बुझाव तो नहीं होता है, कारण कि हम बौद्धिक अपने को समझ कर हर एक बात का विवेचन करने को उतारू हो जाते हैं हमारा यह दिमाग व्यर्थ झगड़ों की जड़ है और हम झगड़ा तो बहुत आसानी से मोल ले लेते हैं। भले ही उसको मिटाने के उपाय से परिचित नहीं।

यह दुनिया का खेल कैसा लगता है। रोज ही कुछ तब्दीलियाँ होती जाती हैं। वर्तमान की छोटी-छोटी अनजानी घटनाएं जीवन बनाती हैं। तब हम कुछ नहीं जानते हैं। जब जरा समझते हैं तो वह याद बन जाती है। तुमसे अनजाने ही परिचय हुआ था। वह परिचय—उसे बिसारना आसान नहीं। तब तुम्हारे माथे पर सुहाग का टीका वक्त ने नहीं लगाया था। तुम एक साधारण कुमारी थीं, जिसके भविष्य पर कोई खास सीमित विश्वास नहीं था। न मैं यही जानता था कि इस तरह चुपचाप तुम किसी अनजाने गृहस्थ में प्रवेश कर वहाँ आजीवन रहने की व्यवस्था बना लोगी। वह कड़ी व्यवस्था, जिससे छुटकारा पाना आसान नहीं, जो नारी के लिए एक पहेली अक्सर साबित होता है? जहाँ वह खिल नहीं पाती है। अपनी आशाओं को हृदय में दबोचे चुपचाप पड़ी रहती है, किसी से अपने मन की बात नहीं कहेगी--अपना दुःख नहीं सुनायेगी। यह मूक रहने की विद्या नारी ने एक कदीम जमाने से सीखी है। वह उसमें अपने जजबात छिपा लेती है। यह उसका कैसा न्याय है आखिर? 'अपने' उसके जीवन में कुछ और होते हैं, जिन पर वह विश्वास कर सकती है। पति तो है एक पुरुष, जिसे सामाजिक अधिकार है कि मानव की भावी सृष्टि की रक्षा करे। यह सही बात है, जिससे असावधानी बरतनी उचित नहीं है। पति से होता है एक शारीरिक नाता, लेकिन विचारों का नाता औरों से भी हो सकता है। नहीं तो अपने मन में जमा हुआ मैल किसके सहारे बाँटा जायगा। जब यह सब बातें सोचता हूँ, तो तुम पर न जाने क्यों अटक जाता हूँ। सोचता हूँ, वह लड़की जिसे पहचानने के लिये 'हेम' कह कर पुकारा जाता था, अब आज कहाँ होगी? कितना आश्चर्य नहीं है यह कि वह हेम ऐसी मौलिकता थी, जिस

को आज भूल नहीं सका हूँ, जिसके सुख-दुःख, पीड़ा के लिये हर वक्त दिल का एक कोना खाली रखता हूँ कि न जाने कब अनजाने पहुँच कर वह वहाँ अपनी जगह ढूँढ़ ले। तो क्या यह मेरे मन का पाप है कि दूसरे की पत्नी से आज सरोकार रखने की ममता नहीं बिसार सका हूँ? दुनिया यदि जान ले यह बात, तो तुम कुसूरवार गिनी जाओगी। यह समाज का न्याय सब पर लागू होता है। यह समाज इस तरह क्यों हमारे विचारों, भावनाओं को कुचल डालना चाहता है? क्यों वह बार-बार डराता है कि हेम से अलग रहो, हेम को भूल जाओ। हेम अब पत्नी ही नहीं, हेम तो माँ है—माँ! वह हेम माँ है, सुना था मैंने और खुशी हुई थी कि वह लड़की अब लोभी बन जायगी। बच्चे के होने के बाद माँ लोभ स्वयं ही बटोरने लगती है। अब तो तुम·········

मेरे मन का लोभ! सच ही आज मैं बहुत लालची हो गया हूँ कि निरर्थक उन पुरानी मैली घटनाओं में चमक ढूँढ़, काँच को हीरा साबित करना चाहता हूँ। यह तो एक व्यर्थ घमण्ड है मेरा। तो भी मानूँगा नहीं। मेरा मन बहुत भूखा है और उसको समझाने के लिए, उन बीती बातों को फैला कर ही आखरी सन्तोष मुझे है। जैसे कि अपने जीवन की दुपहरी में गुदड़ी-बाजार लगा कर उन प्यारी-प्यारी चीजों को फैला, एक पैनी दृष्टि से सही-सही तौल करना चाहता हूँ। आज अपने को बुद्धिमान मानता हूँ और यह सोचा करता हूँ कि मैं एक अच्छा पारखी हूँ। बड़ी देर तक व्यर्थ छान-बीन करने के बाद पाता हूँ······। तो तुम समझ गई होगी। लड़कियों की बुद्धि जितनी सरल होती है, उतनी ही पैनी। जरा अधिकार मिलते ही उनको पुरखिन बनते अधिक देर नहीं लगती है; वही दावा तुम करती हो। लेकिन यह पुरुष बार-बार कोशिश करता है कि अपनी भावुकता को नष्ट कर दे। कितनी कठिन बात है यह! 'भावना' को मिटा देना क्या कभी सम्भव हो सकता है, और क्या कभी वे मिट सकी हैं? इन्सान तो चूना, लोहा, ताँबा, कोयला और कई-कई धातुओं का ढाँचा मात्र है। उसमें प्राण डालती हैं ये भावनाएँ ही; जो स्वयं ही उदय हो कर अस्त हो जाती हैं। कुछ भावनाएँ

व्यापक हैं, पर कुछ पैदा होती हैं; पैदा हो कर फैलती हैं। उन को आसानी से भुलाया नहीं जाता है। वह मन को बेचैन, अस्वस्थ भले ही बना दें, एक सहारा और बल देती हैं वह जीवन में रुकावट भले ही डालें, नव-जीवन प्रदान करती हैं। तुम मेरे जीवन की वही भावना हो हेम! तुमको मैंने खूब-खूब पहचाना था और तुम स्वयं ही मेरे जोवन में खड़ी होकर भाग गईं! मैं चाहता था कि तुम कहीं किसी स्वस्थ गृहस्थ में रहो। वही तुम्हारी जगह थी। अब तुम सब बातों पर विचार कर समझ गई होगी कि मैंने कहाँ तक अपना कर्त्तव्य निभाया है। वह मेरा विश्वास था, जो मैंने पूरा किया है। यही एक मात्र खुशी मेरे जीवन में है कि हेम भली है; उसका एक सुन्दर गृहस्थ है—हेम माँ है। उस सब पर अधिक वैसे आज नहीं सोचता। कारण कि अपने चारों ओर गलत समाजिक धारणाओं का जाल पाकर, घबड़ा जरूर उठता हूँ; बस उसके बीच कोई सरल उपाय ढूँढ़ने तुल जाता हूँ।

तो हेम तुम मिली थीं। क्या अब अपनी वह सारी बात खोल दूँ। कुछ ठीक याद नहीं आता क्यों तुम को देख कर सोचा था कि तुम बहुत भावुक हो। तुम्हारे विश्वविद्यालय में कोई त्योहार मनाया जा रहा था। तुम लोगों ने एक मेला-सा लगाया था। तुम खुद ही सुन्दर-सुन्दर चीजें सँवार कर, भाव-तोल कर बेच रही थीं। मुझे दुनिया का हल्ला बचपन से नापसन्द है; भीड़ देख कर मेरा मन संकुचित हो जाता है। मैं तो दूर—अलग से दुनिया को देख कर पहचान लेना सीख गया हूँ। अपने कुछ थोड़े से सगे हैं, उनको अपने चारों ओर फैला कर उन के बीच रहना ही मेरा सुख हमेशा से रहा है। तुमने सुन्दर-सुन्दर रूमाल काढ़ कर अपनी दूकान को सजाया था। उनके बीच तुमको खड़ी देख कर मैं वहाँ पहुँचा। हम लोग अपरचित थे। मैंने वह सब रूमाल खरीद कर तुम्हारी दूकान खाली कर दी। तुम अचरज में खड़ी की खड़ी ही रह गई थीं तो कहा था मैंने, 'अभी तो पूरे नहीं हुए और रूमालों का आर्डर देना चाहता था मैं!'

तुम चुपचाप खड़ी थीं। तुम कुछ बोली नहीं। तभी मेरे मामा की लड़की ने आकर तुमको उबार लिया। मैं उस से बोला, 'देख, मैंने कितनी खरीददारी

की है आज !'

वह हँस पड़ी थी, बोली ही, 'चल हेम, अब चाय पीलें। तू भाग्यवान से है। हम सब तो सुबह से बैठी की बैठी हैं !'

तुम फिर उसी तरह खड़ी थीं। तुम को चुप देख कर मैं बोला, 'यदि इन सब का आप को दुःख हो तो लीजिए; अपनी दूकान देखिए··· ।' आगे मैं बोल नहीं सका। वह नोट जो मैंने दिये थे, सब फर्श पर गिरे पड़े थे।

बहिन ने वे उठा कर तुम्हारे बटुए में रख दिये। बोली थी तुम से, 'अब तपस्या कब तक करोगी? हमें तो बड़ी भूख लग रही है।'

तब तुम जरा सँभलीं और हमारे साथ बढ़ीं। चाय वाले की दूकान पर हम पहुँच कर चाय पीने लगे। मिठाई-नमकीन सब चुक गया था। पूड़ी खाने पर उतारू हुए। सब ने खूब खाया था। तुम सावधानी बरत रही थीं; जैसे कि बार-बार भीतर कोई बात कुरेद रही हो। उतने समीप से तुमको देख कर मन ही मन तुम्हारे लिए एक जगह ढूँढ़ ली। वह पहली अछूती 'भावुकता' एक गहरी लकीर आजीवन के लिए मेरे हृदय में खिंच चुकी है। उसे बिसारना आसान नहीं है। तुम उस दिन एक नारी सरलता मुझे सौंप गईं थीं; एक कुतूहल पाया था मैंने तुम में ! सोचा था कि तुम किस तत्व की बनी हो जो मुझे लुभा गईं। बात वहीं पर समाप्त नहीं हुई। पान खरीदे थे मैंने और देखा था कि तुम्हारे ओंठ पान के रंग से और भी सुन्दर लगने लगे थे।

वह छोटी घटना मेरे लिए एक महत्व की बात हुई। मैंने हेम को पहचाना। उस रात फिर तुम लोगों ने नाटक खेला था, उत्तर रामचरित। तुम बनी थीं लक्ष्मण ! मन ही मन मैं बहुत हँसा था। तुम तो बड़ी कुशल निकलीं; इतने करतब तुम सब-सब जानती होगी; नहीं मालूम था मुझे। अगली सुबह तुम लज्जा से मेरे नजदीक नहीं आईं, डर था कि वह लक्ष्मण वाली बात कहीं········! और जब संध्या को घूमने निकले थे तो कहा था मैंने 'अपनी बहिन से', लक्ष्मण जी तो भाग जायँगे। अब बेचारी उर्मिला वियोग के दिन काटेगी।' तुम्हारा चेहरा मुरझा गया था; यह व्यंग जैसे कि डस गया हो।

वह सब बातें फैला कर अब कौन-सा फायदा है मेरा। बहुत बड़ी दुनिया घूमा, लोगों को पहचाना, आज भी चुप चाप इधर-उधर मारा-मारा फिरता हूँ। देखा करता हूँ कि संध्या को पक्षी अपने घोसलों में चले आते हैं, पशु जंगल से घर की ओर बढ़ते हैं। सब के परिवार हैं, अपना घर है। मेरे दिल में ऐसा कोई सवाल नहीं उठता। मैं तो चुपचाप खड़ा-खड़ा दुनिया की हालत देखा करता हूँ और सोचा करता हूँ उस भगवान् के न्याय को, जिस पर तू विश्वास करती है। उस भगवान के लिए मेरे दिल में कभी श्रद्धा नहीं रही; उसे मैंने कभी नहीं माना। उसके सब रूपों की ओर मेरा ध्यान नहीं गया। कारण कि जानता हूँ मैं, वह भगवान हमारी अपनी ही एक कमजोरी व गलत कसौटी है। वह भगवान एक सामाजिक प्रतीक है, जो बड़ों और छोटों के बीच एक खाई डालता है—जो इन्सान को गरीब और अमीर की श्रेणियों में विभाजित करता है! तो उस पर विश्वास करना कितनी बड़ी भूल नहीं है! लेकिन तू अपने भगवान की पूजा अच्छी तरह किया कर, उसे कर्तव्य मान ले। झंझटों और मुसीबतों में घिरे व्यक्ति के आगे भगवान कभी खड़े नहीं होते; वही उनको पुकार कर, सहारा इसी लिए नहीं माँगता है।

उस दिन जब मैं तुम लोगों से बिदा हुआ था, तो तुमने कुछ नहीं कहा। बहुत घबराईं, अनमनी-सी तुम रहीं। मैं उदास-सा लौटा था और पाया कि दुनिया में प्यार भी किया जा सकता है। वह दबी भावना तुमने पहले-पहल उभारी थी। तुम्हारा परिचय पाकर मुझे बहुत खुशी हुई थी। वे दिन कितने उत्साह और उम्मीदों से भरे हुए थे! क्या चिन्ता थी मुझे! बहुत अधिक जीवन पर विचार न कर, अपने को चीर-फाड़ डालना नहीं सीखा था। अपने में एक स्वस्थता थी। मेरे मन में एक बात जम गई थी कि मेरा एक निश्चित भविष्य है, जहाँ हेम आयेगी, रहेगी......। कितना सुखद स्वप्न था वह मेरा!

तुम तो हेम फिर एक बार मिली थीं। वह होली के दिन थे। मैं मामा के यहाँ छुट्टियों में चला गया था। मामा की लड़की वहाँ थी। बड़ी रात वहाँ पहुँचा था। सुबह ठीक तरह नींद नहीं टूटी थी कि देखा था मैंने; तुम अबीर

की तश्तरी लिये सामने खड़ी थीं। भौंचक्का मैं तुमको देखता-देखता ही रह गया। कोई हिचक न बरत; तुमने मेरे अबीर लगा दी और भाग गईं। मैं उसी तरह बैठा ही रहा। सोचा था कि हेम यह कैसा अच्छा खेल तुम खेला करती हो। चुपचाप अपने में ही रहा। लेकिन मैं दिन को सो रहा था कि चुपके आईं तुम, बोलीं, 'उठो, घर भर रंग खेल रहा है।'

मैं था कच्ची नींद में, उठा नहीं। तो कहा था तुमने—'उठ जाओ!

देखा था मैंने कि तुम साथ में रंग की पिचकारी लाई हो। मैं तो फिर उसी तरह सो गया, बोला, 'अभी तो पूरी नींद नहीं हुई है।'

लेकिन तुमने धमकी दी—'बाहर चलो! भला कोई रंग के डर से इस तरह छिप कर लेटा रहता है?'

मैं जान गया था कि तुम मुहल्ले की सब लड़कियों की अगुआ बनकर आई थीं और आज किसी तरह मुझे खूब भिगोने की ठहराये हुए थीं। इसी लिए मैंने बाहर जाने से साफ इन्कार कर दिया। तुम जब बड़ी देर तक मनाते-मनाते थक गईं, तो तुमने धमकी दी, 'यहीं रंग फेंक दूँगी!'

मैं चुप रहा।

तुम फिर बोलीं, 'देखो, मैं रंग फेंकती हूँ।'

मैं उसी तरह बैठा रहा।

'उठ जाओ, नहीं तो', यह कह तुमने धमकी दी, 'यह आखिरी बार कह रही हूँ!'

लेकिन मैं न उठा ही और न तुम्हारी बात का जवाब ही दिया; और बस तुमने भरी पिचकारी मुझ पर छोड़ दी।

मुझे बहुत गुस्सा चढ़ा। जल्दी से उठ कर तुमको पकड़ना चाहता था कि तुम भाग गईं, फिर मेरे नजदीक नहीं आईं। मैं गुस्सा थाम नहीं सका था; उसी दिन संध्या की गाड़ी से चला आया। तुमने जाते वक्त नमस्ते की थी। तब तो तुम बहुत उदास लगती थीं। सोचा था मैंने कि यह हेम से नाराज होकर जाना ठीक नहीं; पर अपना अभिमान नहीं भूल सका। मुझमें यह सामर्थ्य नहीं थी। वह एक भूल सही, अपनी आदत के लिए किसे कोसूँ!

वह सब बातें बहुत-बहुत पुरानी हैं। उनको गुजरे एक जमाना बीत चुका है। एक, दो, तीन, नहीं-नहीं, पूरे दस साल! इस बीच दुनिया में कई तब्दीलियाँ आ गई हैं। इस दुनिया में बार-बार ठोकरें खाकर मैं इन्सानियत सीख गया हूँ। आज अब अपनी बात किसी से नहीं कहता हूँ।

इस दुनिया और समाज के बीच चल कर मुझे खुशी नहीं होती है। कारण कि मुझे पहले मालूम न था कि हेम मुझे नहीं मिलेगी। मैं यह पूरी तरह जानता था कि हम दोनों आगे जीवन में एक सुन्दर गृहस्थ का निर्माण करेंगे। वह बात झूठी निकली। व्यक्ति का मूल्य तो चाँदी के टुकड़ों पर निर्भर है! उसका तोल बाजारू तोल है। मेरी माँ ने एक समझदार माँ की तरह अपना कर्त्तव्य निभाया; मुझे एक धनी कुटुम्ब को सौंपा। सोचता हूँ; ठीक किया है उसने। इस दुनिया में सच ही पग-पग पर पैसा चाहिये। मैं उसी पैसे को अमूल्य साबित कर मनुष्यत्व का बीज दुनिया में बोना चाहता हूँ। यह पैसे का भाव-तोल समाज के कुछ व्यक्तियों ने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने को स्थापित किया है।

और आज!—बात यह है कि मामा के घर गया था। वहीं मामा की लड़की एक अरसे तक रोगिणी रह कर कल मर गई। उसके सन्दूक में तुम्हारी चिट्ठी देखी। पढ़ी—खूब पढ़ी! तुम इतना दुःख क्यों मोल लिया करती हो हेम, होनहार! उसे जब आज सब लोग जीवन-प्रतीक मानते हैं, तो तुम वैसा ही किया करो; या फिर भगवान का सहारा क्या काफी नहीं?

यह दुःख! अच्छी तरह रहा कर हेम। भावुकता अब तुममें नहीं होनी चाहिए। तुम एक आदर्श माँ हो। पिछली सारी बातों को भूल जाना ही ठीक होगा। वह सब गलत थीं—झूठ-झूठ!

तो हेम, मैं नहीं चाहता कि तुम जवाब दो। उसके लिए आँखें फाड़-फाड़ कर मैं डाकिये का इन्तजार नहीं करूँगा। और—

तुम्हारा,

सोहन

———

अवहेलना

गुलाब ने अपने चारों ओर देखा, निपट अन्धकार। सारी निराशा उसे चारों ओर से ढकती-ढकती लगी। टिमटिमाते तारे बीच-बीच में मुसकराते लगते थे। अपने उस 'नारी' सौन्दर्य ही ने, जीवन में सिलवट डाल, अपने से अलग कराते धोखा दिया था। अन्यथा क्या वह अपने को नहीं पहचानती थी? अपने को उसने खूब समझा था। अपने में क्या-क्या नहीं बूझती रही थी। फिर लगा, कब-कब अपने को वह, इस इतनी बड़ी दुनिया के भीतर पा सकी है। अब अपने ऊपर दया आती, अपनी लाचारी, निरी एक अहसान-सी बाकी थी। वह उतने आँसू जो मजबूरी से पहले बहे, अब बाद को छाले बने उभरने लगे। उनको बटोर कर, उस सब में वह अपने को खुद खो देना चाहती थी। अपनी लाज मिटा, जैसे अब और कुछ बाकी नहीं रहा हो। कोई उससे उसका उभरा जीवन छीन फिर बोला, ओ छलना, तू·· ···?, फिर कोई कहता तू—तू—तू—गुलाब! वह डर जाती। अपनी ही आहट से चौंक-चौंक कर फिर-फिर पीछे देखती। यह इतना डर प्राणों में सिमट रहा था, वह केवल कुछ निश्चित थी। अपना उसका संसारा दिल भारी था, अपनी बेवसी के ऊपर वह उठ चुकी थी। उसके लिए इनकार और उलझन का सवाल कहीं बाकी नहीं था। उस व्यवहार का उलङ्घन अनुचित साबित नहीं हुआ था। जो कुछ कमी थी, वह गलती बन, अब उसे छुटकारा नहीं देना चाहती थी।

अब उसने वह सीमेण्ट की बड़ी कोठी देखी। जहाँ मनुष्य और उसकी आत्मा के प्रति व्यवहार को तोलने की सामर्थ्य नहीं, उसे परखने की भी कसौटी नहीं है। जिसके प्रति अवहेलना बरत कर वह उस गिनती के भीतर आ गयी थी। उस जगह का भीतरी ज्ञान पाकर, अब निपट शून्यता जीवन से खेलती लगती थी। वह—वह दरवाजा, उसके भीतर एक सुन्दर सजा कमरा। सारा वैभव जहाँ सिकुड़ा, चुपचाप पड़ा था। कुछ किसी के विपरीत नहीं लगता था। वह सब पहचान गयी थी। उसके अलावा कुछ और मान लेने को दिल गवाही नहीं देता था। वहीं उसने अपने जीवन का ज्ञान, अपने शरीर की

परिभाषा·····। लेकिन फिर वहीं—वहीं तो वह समझी थी इस दुनिया की सभ्यता को, समाज के न्याय को, देश के कर्तव्य······। यह इतना 'घमण्ड' आज कैसे ऊपर उठता जा रहा था। तभी तो उसने अपनी सारी घृणा पी, अपने पर विचारना छोड़ ही दिया था। अपने प्रति उठते 'क्या', 'क्यों' का सवाल लागू नहीं होने दिया था। सब कुछ जान कर भी राहत नहीं मिल सकती थी। अपनी असहायता की वजह से शरीर से ऊपर से मन उठ गया था। आत्मा जीवन की तड़फन में झुलस कर काफी दुःख मोल ले, उपाय नहीं बन पायी थी। अकेला अपने में दुबका नारीत्व उनमन-उनमन, उमड़-घुमड़ कहता था, जाग—जाग! किन्तु वह सहमी, एक गहरी नींद सोयीं थी। उस नींद के मार्फत सारा दुःख छुप और दुबक गया था। वह नींद में रल कर वहीं रह, कुछ ज्यादा फिक्र करना नहीं चाहती थी। वह सोया नारित्व कलङ्क कैसे होता। रात्रि सभ्यता की अपेक्षा, सही अपने को कह देती है। तब कुछ और बात नहीं थी। अनजानों को भुला, बहका, एक खेल खेल, अपने को अलग वे लोग कैसे कर लेते हैं; गुलाब ने नहीं जाना था। यह एक भार सौंप, कल वह व्यक्ति, उसके नजदीक कभी नहीं आवेगा। अब उसके नजदीक उसकी कोई जगह बाकी नहीं है। तभी एक विद्रोह उठ-उठ गुलाब को दबाता। चाहती थी वह, सब कुछ मिटा डालना। सारी दुनिया, उसके घमण्ड को कुचल केवल अकेली ही खड़ी रहना। क्या यह सही और सच था? उसने अविश्वास की अवज्ञा करनी कब सीखी थी। सब झूठ भले ही लगे, वह मान लेने को तैयार नहीं थी।

कोठी का वह बड़ा कमरा, वह जहाँ जिन्दगी की पहली बाजी हारी थी अब वही आखिरी लगती थी। उसको 'खेल' बन कर दुनिया में नहीं रहना है, अब साधना का जीवन बेकार लगता। जब वह साध्य थी, तब एक सुन्दर सुन्दर जीवन था और अब गंदला-गंदला! कब उसने आज तक अपनी परवाह की थी। अब उसके भीतर भारी मैल जमा हो गया था। इस इतनी सभ्यता को बाँट, निश्चिन्त चुपचाप, वह उससे बाहर खिसक जाना चाहती थी। जब कि आश्रय का तकाजा नहीं होगा, और आदमी आदमी को पहचान लेना

जानता है। वह छोटा 'आउट-हाउस', जहाँ उसका पिता और भाई चुपचाप गहरी नींद सोये हैं। शहर के बीच उनको उसी की वजह से आना पड़ा था। वही सारे झंझटों की जड़ थी। एक दिन वह 'मुसीबत' साबित होगी, उसने पहले कब जाना था। इस दुनिया के फरेब से उसे वास्ता नहीं पड़ा था। वह मनुष्य को ज्ञान के भीतर ही समझती थी। उसे और बाहरी ऊपरी ज्ञान नहीं था। सही इतनी ही परिभाषा काफी लगती थी। गाँव का वातावरण, वहाँ के लोग, खेत; गन्नों का, मटर की फलियाँ भरीं, सरसों फूली, गेहूँ की खड़ी फसलें, हल चलाते बैल, रस निकलता और······और······। मौसम के साथ ही वक्त रद्दोबदल में कट जाता था। वह जानी-पहचानी दुनिया सूनी नहीं लगती थी।

किन्तु, फिर शहर। वह कोठी। उसका पिता, भाई वह और...। जीवन और अपने बीच खाई पड़ी हुई थी। अब कुछ चाहना नहीं थी। सब तो कड़वा लगता। अपने में जो पाया था वही छी-छी-छी अब करता था, कहीं कुछ लोभ बाकी नहीं था। अविश्वास उठता। वह कभी भी 'कठपुतली' बन धोखा खा सकती है। कब उसे अपनी असहायता के भीतर नहीं रहना था। अब उसका व्यक्तित्व झगड़ा ही था। यह सारी फिसाद तभी तो उठी है। अन्यथा उसका अपना था ही क्या। वही अब 'कसूर' थी। कसूरबार कौन साबित करता? अपने में ही हल्ला उठता है। वह अपने को गलत नहीं पाती। खयाल आता, क्या वह आज अपनेको लुटाकर दुनियामें चल सकेगी। भीजी आंखें उठा सकती है। मन में उलझन उठती और अपना कुछ पास नहीं था। बात छुप-छुप जाती। वह, आज, अब......। और यह कौन जानता है? दुनिया बिल्कुल अनजान है। यह भेद उसी तक रहेगा। वह अपने को खोलेने नहीं पाती, फिर वह गाँठ एक विद्रोह लाती। उसे अपने में समा लेना चाहती थी। वह विद्रोह चारों ओर फैल कर उसे घेर लेता। अब वह अनजान नहीं थी।

फिर कुछ याद आती—एक-एक पिछले दिन आगे आ, खेलते छुप जाते। वह कितनी स्वतन्त्र थी—मुक्त। गाँव में निश्चिन्त घूमना। अकेले खेतों के बीच रहना। चांदनी रातके खेल। आम के बाग की रखवाली। आज सब छूट गया था। वह उनसे अलग थी। कहीं कोई लगाव बाकी नहीं रहा था।

अपने नजदीक सिर्फ एक बात बाकी मिलती, वह पाकर ही जीवन भारी लगता था। उसने एक बार अपने को फिर पहचान लेना चाहा। खूब पहचान कर अनजान नहीं रहना चाहती थी। जान लेना चाहती थी—उस अन्तर को, जो अब घृणा पैदा करता है। अन्दर का जमा मैल, बाहर जाहिर नहीं होता था। वह चाहे, अब भी दुनियामें चलकर उसे धोखा दे, अपने को अलग साबित कर सकती है। फिर मन में यह खयाल नहीं ठहरता था। आज तक कब उसने अपने को धोखा देना सीखा था। आज तक उसे दुनिया की ओर झांकने का मौका नहीं मिला था। यह मतलब कभी साथ नहीं रहा। अपना समाज, अपना दायरा...

'ओ गुलाब......'

'सुन-सुन-सुन......'

कोई कानों के पास आकर गुनगुनाया। इस इतने बड़े अपराध को पाकर, अब और क्या बाकी था। क्यों कोई नाम लेकर पुकारता है। पास आकर क्या पूछेगा? नजदीक आकर......। भ्रम मिट जाता। सारी बात सही मालूम पड़ती।

गुलाब संध्या को अपने खेत में मटर की फलियां छांटती रहती थी। तभी एक दिन देखा कि जमींदार का लड़का, घोड़े से उतर कर पास आया है। वह बोला, 'हमें मटर नहीं दोगी। गुलाब।'

वह उसे कुछ देर तक निहारता ही रहता। रेशमी रूमाल निकाल, बहाना बना, उसे सौंप देता। गुलाब मिट्टी में रूमाल बिछा, अच्छी-अच्छी फलियां गांठ में बांधकर सौंप देती थी। वह चला जाता था। गुलाब के मन में जमींदार की इस उदारता पर खुशी होती थी। वह नहीं जानती थी कि पास आने का यह एक बहाना उसने बनाया है। वह फलियां तोड़ती-तोड़ती, दूर तक उसे जाते देखती रहती। उसका वर्ताव उसके मनमें रह जाता था। दिल उस के लिए एक जगह बनाता लगता था। गुलाब को कोई एतराज नहीं था। वह इसे व्यवहार मानती थी। जितना जानती, सवालों का जवाब देती थी। बात के भीतर नहीं पैठ पाती थी। एक दिन अंधियारे वह कुछ हरे पत्ते तोड़ कर, बकरी के लिए ला रही थी। चुपचाप हल्के गुनगुनाती, बटिया पर आगे बढ़ रही

थी। इधर-उधर गेहूँ की पकी फसलें खड़ी थीं। वह निश्चिन्त आगे बढ़ रही थी।

'गुलाब......!'

वह चौंकी, देखा : जमींदार का लड़का खड़ा था। वह डरी। कोई जवाब नहीं दिया। जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाये। वह और पास आकर फिर बोला—'गु...ला...ब!'

वह चुप रही। कोई जवाब नहीं दिया। अब उसे खड़ा नहीं होना था। कुछ आगे बढ़ सकती, ठीक हो जाता।

आगे खड़े होकर उसने रास्ता रोक लिया था। गुलाब क्या करती, खड़ी की खड़ी रह गयी। कुछ सूझा नहीं था। हार कर आखिर बोली—'मुझे जाने दो।'

'तुम अब मेरे साथ चलो गुलाब। यहां रह कर क्या करोगी?'

गुलाब की उसासें बढ़ रही थीं। कुछ जवाब पास नहीं था। सन्न वह खड़ी ही थी।

'महल में अब तुम रहना।' कह कर वह उसके नजदीक आया। गुलाब का हाथ अपने में ले बोला, 'तुम बड़ी सुन्दर हो।'

असहाय गुलाब ने हिम्मत बटोरी, कहा—'मुझे छोड़ दीजिये। मैं हल्ला मचाती हूँ।'

'मुझे किसी का डर नहीं।' वह हँस पड़ा।

गुलाब संभली थी। हरे पत्तों को जमीन पर फेंक दिया था। हाथ छुड़ा कर खेतों के बीच छुप गयी थी।

तभी गुलाब ने समझा था कि अब उसे चैन नहीं। यह एक बड़ा झगड़ा उसने मोल ले लिया था। कुछ दिन बाद ही उसने सुना, जमींदार ने बेदखली का दावा उसके पिता पर किया है। खेतों के छिन जाने पर बड़ी मुसीबतें उन पर पड़ेंगी। वही सारी बातों की जड़ थी। घरके सब जेवर बेच, कर्जा ले, एक दिन उसके पिता ने आकर सुनाया कि उनकी जीत हुई है। सारा घर अपनी मुसीबतों को भूल गया था। भगवान ने उनकी सुन ली थी। लेकिन उसी सन्ध्या को जब गुलाब खेत से घर लौट रही थी, कुछ आदमियों ने उसे पकड़ लिया था।

वे उसे ले गये। वह कुछ नहीं जान सकी। लाचारी की वजह से उनके साथ हो ली थी। इस असमर्थता का कोई छुटकारा नहीं था।

गुलाब चौंकी। पास कुत्ता भूंक रहा था। उस कमरे में एकाएक रोशनी हुई और बुझ गई। उसका दिल जोर-जोर से धड़कने लगा, धुक-धुक-धुक! धुकधुकी बढ़ती जा रही थी। वह संभली, लगा कोई पास आकर पुचकारता। सब खो कर कोई फुसला रहा था—तू गलत नहीं थी। तेरा कोई कसूर नहीं, आँसू भीतर जमा हो, बाहर आना चाहते थे। किसी के आगे सब कुछ कह, सुना, वह दुनिया से दूर भाग जाना चाहती थी। इसी एक फिक्र में थी, सारा शरीर थक गया था। मन में भारी उचाट थी, सिर भारी हो, दुख रहा था! कान के पास जमींदार के स्वर-से उठे स्वर में कोई पुकारता था—गुलाब? वह अपरिचित, अनजान, अजनबी······? वह स्वर अब उसे निगलता क्यों नहीं है। एक भारी भूख लगी थी। कोई उपाय पास नहीं था। अपनी जरूरत पाकर उसने गुलाब को छोड़ दिया था। इस न्याय के बाद चुपचाप सन्तोष से वह सोया है। कहीं, कोई कसूरवार उसे नहीं ठहरा सकता है। इस चलती दुनिया में उसकी ओर उंगली कोई नहीं उठावेगा। अब आँखें दुखने लगी थीं। जरा एक झपकी पेड़ के सहारे आयी थी कि लगा किसी ने उसकी बाँह पकड़, झकोरते हुए कुछ कहा। भयभीत हो उसने आँखें खोलीं। देखा, कोई पास नहीं था। बाँह पर वहाँ एक नीला बड़ा छाला अभी तक पड़ा ही था। वह साबित करता लगा, आदमी अपने स्वार्थ में बलवान है। नारी की कोमलता परख, उसे वह पा लेना चाहता है। सरलता में फुसला, कुचल कर खुद अलग ही रहेगा। अपने फैले बालों को उसने एक ओर हटाया। वह बड़ा नाटक खतम हो चुका था।

उन लोगों ने चन्द पैसों के लालच पर, उसे जमींदार के लड़के को सौंपने का वादा किया था। उस नारी देह को फिर भी वह नहीं पा सका। कृतार्थ कैसे होता, हवस अपने में रमी रह गयी। वह, जिसका जीवन नारी से खेल, फिर उसे ठुकराने में कटा था, गुलाब से क्या चाहता था? एक मतलब ही उसका था। क्या वह अनजान थी? जिसे एक दिन खेतों के बीच भुलावा देकर, आग

भड़का वह भाग आयी थी, उस आग के भीतर अब उसे पैंठना पड़ेगा। निरी गुड़िया वह रहेगी। उसकी कोई आवाज नहीं होगी, अपना शरीर तक अपना नहीं ही होगा। उसकी लाचारी पर वह मखौल उड़ावेगा; बेबसी पर हँस देगा। यह अपने में चुप रहेगी। कोई सवाल नहीं सुनेगी। उससे आज तक कौन जीत पाया था? उसका बड़ा होना ही सारे झगड़े की जड़ थी।

वह छुटकारा बीच में ही पा गई थी। कुछ लोगों ने उसे छुड़ा लिया था। जमींदार की यह एक और हार थी। पुलिस ने उन लोगों पर मुकदमा चलाया था। वही, कानून को बनाने वालों के पास पकड़ कर ले गये थे। अब एक बड़ा तमाशा बन गया था। उसी से वास्ता अब रह गया था। वह शहर पहुँची थी। शहर गाँव से बहुत बड़ा था।

गुलाब चौंकी। पेड़ पर कोई चिड़िया फुदफुदायी थी। चारों ओर सन्नाटा था। सारी दुनिया फुर्सत पा चुपचाप सोयी हुई थी। मनुष्य और उसकी सभ्यता को अब जरा सुस्ता लेने का मौका मिला था। अब उसे रात फीकी लग रही थी। इतनी बड़ी देर के बाद अभ्यास नहीं हुआ था। कुछ ही घण्टे पहले...। फिर किसी ने उसे गहरी नींद से जगाया। माथे पर का घाव दुखने लगा। वहाँ उसने उँगलियाँ फेरीं। कहीं-कहीं जमें खून से बाल चिपक रहे थे। जिन्दगी में वह यह सब कब जानती रही। इसके बाद जीवन से छुटकारे की चाह उसे थी। जीकर कुछ और वह क्या करेगी। अनजान भले ही दुनिया हो, फिर भी उसे पहचान कर उसके बीच उसे नहीं चलता है। वहाँ खड़ा होना अब असह्य लगता।

पिता और भाई के साथ वह शहर आयी थी। तभी उसे शहर का ज्ञान हुआ था। अब गाँव कमती-कमती लगते थे। शहर की चीजों को देखकर मन थकता नहीं था। और देख-देखकर कुछ खाली सा रह जाता था।

अदालत, मजिस्ट्रेट, उतने लोगों का जमाव! वह सब लोग पुलीस के साथ थे, जो उसे पकड़ कर ले गये थे। यह पहला अनुभव था। बड़ी देर तक न जाने क्या-क्या बातें होती रहीं। सारा समूह उसे घूरने लगा। कुछ उस पर उँगली उठाते फुस-फुस कर रहे थे। गवाहियाँ हुईं। मजिस्ट्रेट चश्मे की आड़ से

गुलाब को देख रहा था। उससे सवाल हुए।

'तुम्हारा नाम ?'

'गुलाब।'

'उम्र ?'

'सतरह साल।'

वह सब कुछ बोली। सब को पहचाना। बड़ी देर हो गयी थी। कैदी जेल गये थे। अगले दिन को बाकी और काम बच रहा था। अनजान शहर। कहाँ वे जाते। और मजिस्ट्रेट ने अपने 'आउट हाउस' में टिकने को उनको जगह दे दी थी।

रात को वह अपने पिता भाई से अलग पास दूसरी कोठरी में सो रही थी। एक खटका हुआ। वह चौंकी। किसी ने उसका मुँह दबाया। तीन आदमी उसे पकड़कर ले गये थे।

उसने अपने को होश में पाया। वह खूब सजा कमरा था। वह पलँग से उठी। देखा : सामने मजिस्ट्रेट गम्भीर बने बैठे थे।

और फिर.........।

अगली सुबह गुलाब की लाश पास के कुएँ में मिली थी। बात भेद ही रह गयी।

———

एकाकी चीर

टन, टन, टन, टन करके छै बजने पर वहाँ प्रातःकाल न होता था। वहाँ क्लॉक टावर की घड़ी गोलाकार रूप बनाकर, समय को थिरका-थिरका कर आगे न घसीटती थी। न प्रातःकाल कैण्टूनमेण्ट में सिपाहियों का क्विक मार्च ही होता था। वहाँ एक नवीन जगत् का निष्कपट संचालन था और था स्वतंत्रता का पूर्ण राज्य। वहाँ के मनुष्यों की आत्मा स्वतंत्र थी। वहाँ के लोगों को अपने सुख एवं सौभाग्य के निर्माण का नैसर्गिक अधिकार था; इसलिए वहाँ की

सुनहली झलक ही हम लोगों के कुचले हृदयों के लिए कल्पना का आधार थी।

छोटे से टीले पर एक शिवमन्दिर था। सामने जरा ऊँची पहाड़ियों पर घना जंगल और दूसरी ओर एक छोटा-सा ग्राम। ग्राम के एक ओर जहाँ गंगा की निर्मल धारा सर्वदा कलकल स्वर में मंत्रोच्चारण करती हुई प्रकृति संगीत का पाठ पढ़ाती, वहाँ दूसरी ओर खेतों की लहलहाहट प्रकृति का मूक सबक देती। वहाँ प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियों का प्रकाश होता और उसे आमंत्रित करने ब्राह्म मुहूर्त में मन्दिर के घण्टे, शंख, नगाड़े आदि वाद्यों द्वारा भानु के आगमन की सूचना मिलती। फिर सूर्य्योदय होता; लेकिन उस स्वतंत्र प्रदेश में भला पृथ्वी इस अनायास आई विपत्ति को क्यों सहन करे। रात्रि की वह निर्जनता, वह सौंदर्य...। वह इस आधिपत्य पर फुफकारे क्यों नहीं। बस वह भभक उठती है, सफेद-सफेद लटें बढ़ती हैं और सर्वत्र कुहरा छा जाता है। विशाल वृक्ष पत्ते-विहीन ठठरी से लगते, छोटे-छोटे झोपड़ों की काली छाया अन्त में उस एकाकी सफेदी में मिट जाती। कुहरे का विचित्र समावेश है। चारों ओर कुहरा! कुहरा!! कुहरा!! सूर्य लाल भेष धारे स्वतंत्रता की आशा में ताक लगाये है।

इसी समय वह गंगा घाट की ओर वाले मार्ग पर चली जा रही थी। वह स्त्री है—यह उसकी गति कहती है और बदन की सुदृढ़ता युवती होने की पुष्टि करती है। वह चुपचाप जाती हुई एक बार मन्दिर की ओर देखती है। वहाँ सुनसान है। सर्वत्र कुहरा छाया है। फिर ठिठकी-सी सामने के टीले पर मृत्यु-सूचक-झाड़ी की ओर देखती है। वहाँ शून्यता के सिवाय कुछ नहीं है, और मानो उस शून्यता में कोई गहरी आन्तरिक वेदना की झलक हो। जो अपनी अंतरंग सहेली से लिपट-लिपट कर लौट आने की आशा दिला—कुछ क्षण को इसे छोड़, यहाँ निर्जन सा बना, अब शीघ्र ही लौट कर अपनी सखी को सब कुछ सुना कर—एक विचित्र कौतूहल-सा लाकर नया राग जुड़ा—फिर दुःखित-सी से सहानुभूति होकर, लिपट जायगी। वह बस इसी से आगे बढ़ी............और सखी से कुछ पूछने......लेकिन अब तो वह दूसरे के

समीप पहुँच कर सेंमल के फूल-जैसे लाल-लाल रंग वाले कपड़े के टुकड़े का फहराना देखती। यह लाल-लाल छींट का टुकड़ा उसने सुदूर देश के बंजारे से एक सेर धान में बदला था, जो कि उछलती भाषा का जीवन मूक-चित्र था और इसके बन्धन की प्रक्रिया में सात्विक और आदर्श-जीवन की झलक के साथ-ही-साथ एक अज्ञात करुण-गाथा की गूढ़ छाप थी। इस समय भी उसकी गम्भीर आँखों में एक गम्भीर अनुराग था, एक कठिन संकल्प था। यहाँ पर वह किसी की प्रतीक्षा को उत्सुक थी।

वह छोटी-सी झाड़ी थी। हरे-हरे पत्तों से लदी, उस टीले पर हर मौसम में लहराती। उसमें न फूल फूलते, न फल ही आते थे; क्योंकि वह मानव-जीवन के कुछ बिसरे भावों को पुनःजीवन देकर विषाद और करुणा की छाया-सी डाल देती थी। वह गाँव से श्मशानघाट वाले मार्ग पर पड़ती थी। लोग इस ओर आने से डरते थे; क्योंकि वह झाड़ी और उसकी टहनियों पर बँधे रंग-बिरंगे चीर, गाँव के मृत-पुरुषों की डायरी थे। उन छोटे-छोटे चीरों ने उसे रसहीन-सा बना दिया था। बस उसकी एक आकांक्षा रहती कि सर्वदा उनसे सजी रह कर कुछ बिछुड़े हृदय की शाँति के लिए समय-समय पर गतिवान-सी हो, विरह की गाथा के साथ, शोक के भावों में रमी रह कर स्मृति का स्वप्न मुद्रित करे।

नीले कपड़े का चीर!

लाल कपड़े का!

हरा वाला.........

वह सफेद.........

और काला भी.........

वे सब अलग-अलग एक-एक जीवन इतिहास से रंगे हैं। उनके सूत का एक-एक डोरा कालचक्र के द्वारा मानवीय हाथों में बिक गया था। तभी तो एक-एक अलग-अलग मानव-हृदय से सम्बन्ध रखते हैं। जो कि कभी सजीव थे, कई वर्षों तक इस ग्राम की गोदी में हिल्लोलें लेते रहे। विश्वकर्मा ने इन्हें खिलौना-सा बना सवाक हो धूल में मिला दिया। और अंत में इस अटूट

नियम का पालन करने, संसार-चक्र के साथ उस एकाकी से मिलने को इसी राह गंगा के किनारे पहुँचा कर, भस्मीभूत हुई चिता की अग्नि ने, पंचभूतों के उस जीव को समा लिया। भिन्न-भिन्न रंग के टुकड़े, इन्द्रधनुष के सात रंगों से भी परे, मनुष्य के आविष्कार की सूझ, उसकी बुद्धि की अथाहता, विश्व पर विजय पाने का व्यर्थ स्वप्न; पर वे यह समझते हैं कि सब की गति सीमित है। एक दिवस वही पुनरावृत्ति, वही जीवन-मरण—हाँ, हाँ, वही जीवन-मरण! एक अटल नियम, जिससे कोई नहीं छूटा, सब के सब इसके चंगुल में फँस अनजान से बन जाते हैं और समय चूक जाने पर एक हुंकार के साथ बड़बड़ाते हैं—अब समय चूक गया है।

इस हद को पार करने से पहले, लोग इस झाड़ी पर मृतपुरुष के कफ़न से एक चीर निकाल कर बाँध देते हैं। इन रंगीन टुकड़ों पर धूप-पानी का असर पड़ता है और ये अपने बनावटी कलेवर को उतार रंगीनी से सुफ़ेदी ले लेते हैं। सफेद-सफेद रंग मृत्यु की एक स्पष्ट छाप है, जिसे कौन नहीं जानता, और बस धीरे-धीरे नये-नये चीरों को स्थान देने के लिए ये सड़-सड़, गल-गल कर धूल में मिल, प्रकृति की क्रिया का पुनः संचालन करते हैं।

यह लाल चीर इसमें पार साल बँधा था। यह एक अनभ्र वज्रपात का प्रतिफल है, जिसकी याद करके रोना आता है। इसे बाँधने में, इसका सम्बन्ध पेड़ से जोड़ने में, आँसुओं की अविरल वर्षा के साथ एक नारी हृदय टूक-टूक हो गया था। एक मलिन छाया-सी, मुख पर उदासीनता के मिश्रण के साथ, उधर कई घण्टों विलाप करके अन्त में धीरे-धीरे मंदगति से बुझे नेत्रों को ले गाँव की ओर सरक गई थी। उस समय यहाँ पर प्रलय की-सी साँय-साँय एक निस्सीम उन्मुक्त गति से डोल रही थी और इसी साँय-साँय में वह लाल-लाल चीर अपने इस नये बन्धन पर उमंग से फहरा उठता। उस उमंग और फरफराहट में एक पिशाचिनी-मूर्ति-सी चंचलायमान हो रही थी। गाँव के लोगों का ध्यान उधर न गया। उनको उधर जाने का क्या काम और उस छोटे-से चीर को बाँधते समय वहाँ पर कोई न था। गाँव की चाल के अनुसार इस लाल आकार का सम्बन्धी उस राह से ले जाकर नदी की कल-

कलाहट में समर्पित नहीं किया गया। उनको तो दूर गाँव के कोलाहल ने सुनाया कि एक युवक—शायद नाम भी लिया होगा—जो कि उसी गाँव का था, फ्रांस की लड़ाई में मारा गया। उसकी आत्मा की शांति के लिए गाँव वालों ने उस दिन रात्रि के भोजन में कोई रुकावट न की, न मन्दिर की पूजा ही उसके शोक में एक दिवस बन्द हुई, जो कि उस गाँव का अटल नियम था। सबने सुन कर अनसुना कर दिया, मानों कोई साधारण-सी बात हुई हो; क्योंकि उसका अपना-पराया कोई न था। फिर भी वहाँ की एक ग्रामीण युवती ने उस दिन अनाहार रखा, रातभर चिन्तित रह शोकावेग में डूब फफक-फफक कर रोई। न जाने कैसी-कैसी उद्‌गार-वीचिकाएँ उसके हृदय में उत्पन्न और नष्ट हुईं। एवं रह-रह कर, सिसक-सिसक कर, हृदय की असाध्य वेदना ने कुछ देर के लिए उसको निद्रान्तरित कर दिया। दूसरे दिवस उसने एक बंजारे से लाल छींट का चीर बदले में लिया और इस झाड़ी से बाँधा, फिर श्मशान घाट पर पहुँच नदी में तीन-चार डुबकियाँ लगाईं। अंजलि में तिल ले तिलाँजली देकर, उसकी आत्मा की शांति के लिए उच्च करुण स्वर में प्रार्थना की और घर लौट आई।

कुछ दिनों बाद एक राज-कर्मचारी आया और उस युवक की बहादुरी के लिए गाँव में माफी का हुक्म सुना गया। वह सब सुन कर चुप हो रही और धीरे-धीरे झाड़ी के पास पहुँच कर गुनगुनाई—

'झूठ!'

क्योंकि उसके कानों में एक प्रति-ध्वनि-सी हुई। एक मधुर स्मृति किसी स्वर्गीय संगीत की भाँति जीवन के तार-तार में व्याप्त हो गई......

जीवन-नाटिका का एक भूला-सा सम्वाद फिर स्मरण हो आया—

'मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा रानी।'

'नहीं, तुम यहीं रहो, मुझसे अकेला नहीं रहा जायगा।' अनुपम आनन्द के वेग में अपना सर्वस्व पहचान कर इसने कहा था।

'दुर पगली! अभी तक लड़कपन नहीं छोड़ा?'

'नहीं, तुम यहीं रहो, मैं पिता जी से कहूँगी।'

'तेरे पिताजी ने मुझे पाल पोस कर इतना बड़ा किया, अब मैं कमाने लायक हुआ। परदेश से कमा कर शीघ्र आऊँगा !'

'तो जाओ ; लेकिन जल्दी लौट आना मैं तुम्हारी राह देखती रहूँगी।'

वह दूसरे दिन चला गया था और उसकी प्रतीक्षा करते-करते तीन साल कटने को आये।

वह चुपचाप चैतन्य होकर उस झाड़ी पर फहराते लाल-लाल चीर को देखने लगी। वह बालिका नहीं, उसके अंग-अंग में यौवन का तूफान मतवाला बनकर रम रहा था। हृदय में समय-समय पर कौतूहल के साथ-साथ एक हूक उठती थी......हाँ, एक प्रश्न...

'क्या वह आयेगा ?'

क्यों नहीं, यही उसकी प्रतिज्ञा थी, उसने आज तक इसीलिए प्रतीक्षा की। वह उस पेड़ के नीचे धप्प से बैठ गई। उसके हृदय में दबी हुई अभिलाषा और अकाँक्षाओं की मूर्ति बन कर वह खड़ा था और वह सूक्ष्म-सा हृदय एक अदृश्य सुख के ज्वलन्त उल्लास से भर गया।

कुहरा धीरे-धीरे हट रहा था।

जीवक-नाटिका के द्वितीय अंक में प्रवेश करने पर लोगों के कथनानुसार युवावस्था आती है, हृदय में भिन्न-भिन्न भावों का उत्थान होता है। हृदय भावों और आशा के मधु से लबालब भर जाता है। उपासक-उपासिकाएँ इस एक चित्त मधु में भाग लेने आ टपकते हैं। यहीं मित्रता का आरम्भ होता है और युवतियों के साथ-साथ की मित्रता, धीरे-धीरे प्रेम की बाढ़ ला। एक नवीन युग की सृष्टि में संलग्न हो जाती है। हृदय में प्रेम का प्रचण्ड आवेग होता है और यहीं पर युवक-युवतियाँ सदेह रंगमय हो प्रणय-सूत्र में बँध जाते हैं। बस, नाटिका के अन्त की चिन्ता न कर यौवन के रंग में रंग कर रंगभूमि को आमोद-प्रमोद का स्थान समझ कर, क्या-क्या भूलें नहीं करते ?

हाँ भूलें ; क्योंकि जीवन भूलों ही से बना है। जीवन की एक-एक भूल पंक्ति-पंक्ति में जुड़ कर एक मानवीय इतिहास की रचना करती है। एक-एक भूल, एक-एक नवीन भाव की पोषक है और भावी जीवन-संग्राम को प्रोत्साहित

करती है, जिससे कि हम कई महत्त्वपूर्ण आकाँक्षाओं की सफलता की आशा कर, टकटकी लगाये कुछ क्षण के लिए संसार के सब माया-मोह से छुटकारा ''' जाते हैं।

हिमालय पर्वत के वक्षस्थल पर वह एक छोटा-सा ग्राम था। ग्राम्य बालक-बालिकाएँ प्रति दिवस सूर्योदय होते ही हाथ-मुँह धो, रात की बची रोटियों का कलेवा कर, खेलते-कूदते; फिर घर के अन्य काम-धन्धों से निबट, दोपहर का खाना खा, अपनी-अपनी गायें चराने जाते। सारा दिन गीत गा कर, खेल-कूद, हँसी-दिल्लगी में बिता देते और गौधूलि के समय अपने-अपने मवेशियों को लेकर घर लौटते। रानी इन्हीं बालक-बालिकाओं के गिरोह की लड़की थी। उसका पिता गाँव का प्रधान था और माधो उसी गाँव के निर्धन परिवार का एक अनाथ बालक। जिसे प्रधान को सौंप, उसके माता-पिता निश्चित-से हो, परलोक से बुलावा आने पर, बारी-बारी से चले गये थे। रानी और माधो इसी एक परिवार की गायें चराते थे। इस परिवार में एक नई गाय ने प्रवेश किया। भूरे-भूरे रंग की थी, इसी से भूरी कहलाई। बड़ी उपद्रवी थी, बाँधे न बँधती थी, न खोले खुलती और चराने पर उधम मचाती। अब उनके परिवार में रामी, गौरी, मंगला के साथ-साथ भूरी भी आई। दोनों भूरी के मारे परेशान थे। उसके भाग जाने पर दोनों उसके पीछे दौड़ लगाते। रानी तो थक कर बैठ जाती; लेकिन माधो उसे पकड़ ही लाता। और लड़के इनके बारे में काना-फूसी करते, चुटकियाँ लेते और वह सब सुन-सुन कर प्रसन्न-सी होती। कुछ महीने बीत जाने पर भूरी एक दिन दौड़ते-दौड़ते एक खड्ड में गिर कर मर गई। उस दिन दोनों खूब रोये और सन्ध्या को उदास घर लौटे। इन्हीं चन्द वर्षों में दोनों के हृदयाकाश में भिन्न-भिन्न भाव-रश्मियाँ प्रस्फुटि हुईं, अन्तरतर के तार को मानो किसी ने छेड़ दिया। एक स्वर में तार बज उठे, ध्वनि दोनों ने सुनी; पर समझा शायद कोई नहीं; क्योंकि उस नवीन प्रवाह के वेग में दोनों समानता से बह रहे थे। जब कि अन्य बाल-बालिकाएँ खेल-कूद में मस्त रहते, उस समय वे हरी-हरी घास पर लेटे अपनी पहाड़ी भाषा में गुनगुनाते—

'ठुमक-ठुमक चला काफल की डालि मा !'

वे दोनों एक थे, एक प्राण था, एक रस था, एक जान थी और एक दिल था। उस गीत को उच्च स्वर में गाते-गाते दोनों उन्मत्त होकर नाच उठते। प्रति दिन के इन गीतों ने उनके हृदय पर एक विचित्र तंत्री की झंकार को गुंजा दिया। उनके हृदय में न जाने क्या-क्या भाव आये, फिर भी दोनों ने सोच-तोल कर यही अन्दाज लगाया कि जीवन भर वे इसी प्रकार साथ-साथ रहेंगे, गायें चरायेंगे और मधुर गीत गायेंगे।

टप, टप, टप, टप कर उस झाड़ी से पानी की बूँदे टपक पड़ीं, मानो आज झाड़ी भी ग्लानि से जीवित हो कर अपने आपको रो रही हो और वह फिर उस मतवाले लाल-लाल चीर को देखने लगी। वह हवा के मन्द-मन्द झोकों में हिलोरें ले रहा था। उन्माद की लाल मदिरा पिये, लाल-लाल आँखों से उसे घूर कर चूम लेना चाहता हो और उसे एक क्षणिक काल्पनिक सुख के लिए सर्वदा को ठुकरा कर, वंचित करना चाहता हो। और उसी पुराने नियम का बेड़ा उठा, उसे फुसला-फुसला कर एक पापमय वासना की प्रविष्ठ उसके हृदय में करा, नारित्व की उस भोली छाया को पिशाचिनी बना, लज्जा-रहित मूर्ति गढ़ कर ठुकरा देगा; क्योंकि वह भी तो यौवन-मदिरा पीकर मतवाली थी। पर पचा-पचा कर अभ्यस्त-सी हो गई, अब परीक्षा का समय समीप जान कर वह इस समय बहुत कुछ परिवर्तन देख रही थी। वह परिवर्तन ऐसा था कि उसका प्रवाह सारे शरीर पर पड़ रहा था। नेत्रों के फड़कने में परिवर्तन था, श्वास की गति में परिवतन था। मानों वह नशे में चूर हो और एक अपूर्ण लालसा उसके हृदय की धुकधुकी में अपना अधिकार जमा, उसीसे घुल-मिल, अन्त में सर्वदा को त्याग देना चाहती हो और वह समय आ पहुँचा है।

टप, टप, टप, कर उसकी आँखें अनायास ही बरस पड़ीं। रोना ही तो दुखी जीवन का सहारा है। उसे याद आई कि फ्रांस की लड़ाई खतम होने पर एक पड़ोसी गाँव का सूबेदार पेन्शन पाकर घर लौटा था। वह वहाँ पहुँची और उसने सुनाई उस युद्ध की कहानी—गोला-बारूद, जहाज, न जाने क्या-क्या कहा था? भला वह यह सब कुछ क्या जाने; परन्तु उसके उच्चारण में

मधुरता न थी, कठोरता थी, जो हृदय को सन्न-सा कर देती। कहीं दूर देश की लड़ाई की कहानी—सात समुद्र पार—रोजमर्रा के युद्ध का हाल, वहाँ की रमणियों की बिखरी मुसकुराहट की चर्चा! बचपन की भूत-प्रेतों वाली कहानी-सी, कुछ-कुछ ऐसी ही थी……।

'एक था राजा, उसकी थी सौ रानियाँ और थे सौ राजकुमार। बड़े राजकुमार को एक दिन किसी ने सुनाया कि कहीं दूर राजकुमारी रहती है और वह एक 'उड़न खटोले' पर बैठ, राक्षसों को मार कर, उसे ले आया।

'माधोसिंह ?'

वह चुपचाप थी।

वह सुन रही थी।

फिर——माधोसिंह ?

वह चौंक उठी, कानों में फिर-फिर गुंजन हुआ—माधोसिंह! माधोसिंह!

वह उसकी कल्पना से ही रोमांचित हो गई। उसके मुख-मण्डल पर एक हल्का-सा गुलाबी रंग तड़ित गति से दौड़ गया; किन्तु शीघ्र रक्त रंग म्लान हो गया। उसके सुकोमल नन्हें हृदय में दो भिन्न-भिन्न भावों का संग्राम छिड़ गया।

सुबेदार कर रहा था—

'वह नायक था, नायक! बस अपनी छोटी-सी टोली के साथ युद्ध में धँस पड़ा। बड़ा वीर था, साहसी था…युद्ध में घायल हुआ……।'

वह भयभीत हुई, कल्पनात्मक विचार बुरे भावों में रँगकर अक्सर रचनात्मक बन जाते हैं। वह काँप उठी और उत्तेजित हो उस लाल-लाल चीर में कुछ ढूँढ़ने लगी। मानों वह उसे सत्य की परिभाषा सुनायेगा, समझायेगा और बुझायेगा। एक भ्रमात्मक ध्वनि के साथ चित्रपट के समान वह देख-सी रही थी, सुन-सी रही थी; मानो मेसमेरिजम-विशारद ने उसके अँगूठे के नाखून पर काला-काला रंग लगा कर, उसमें सब अदृश्य भावनाओं को देखने की शक्ति दे दी हो। सब कुछ सा……।

'माधो एक बार चिल्लाया—

'रानी! रानी!'

वह एक रमणी से···नहीं, नहीं, अस्पताल की नर्स से चिपट गया···मोह-निद्रा भंग हुई, रानी कहाँ? वहाँ तो एक दूसरा ही स्वर था —

'मिस्टर, कैसे हो?'

वह लेटा था, घायल · चुपचाप···पट्टियों ··रुई के गद्दों···अस्पताल के एक कोने में लोहे की चारपाई पर···वह चौंक-सा उठा, रानी वहाँ कहाँ? एक साकार मृगतृष्णा ने, मत्युपथ पर पसरी आँखों ने, भ्रम में डाल दिया···।

जीवन की अन्तिम घड़ियों में मनुष्य के हृदय में एक निर्मल विचार-धारा प्रवाहित होती है। शायद इसी से फाँसी पाये कैदी को अन्तिम अभिलाषा पूछने का नियम-सा चला आ रहा है। माधो ने शायद इसीसे अपने जीवन की मुख्य घटना पर अन्तिम दृष्टि डाली·····।

एक रमणी के प्रेम का अध्याय। वह बहक पड़ा, चिल्लाया—रानी! रानी!···मैं अब न लौटूँगा! समझी, अब तू दूसरे की होगी।

वह बड़बड़ाया। नर्स ने समझाया था—ज्यादा उतावला होना ठीक नहीं; पर भला वह क्यों मानने लगा, उत्तेजित हो पलंग से उठ खड़ा हुआ। घाव के टाँके खुल गये, लहू का फुहारा छूटा और—

'मैं नहीं लौटूंगा रानी।'— कह, सर्वदा को सो गया···

यह सूबेदार ने कहा था—

वह सब सुन-सी रही थी, देख-सी रही थी। मलीन हृदय पर एक आन्तरिक निर्मलता का प्रतिबिम्ब पड़ा और एक अज्ञात शक्ति ने उसके कानों में एक मूक सम्वाद सुनाया, हृदय में एक प्रतिध्वनि हुई—झूठ! वह आयेगा, वह प्रतीक्षा कर रही है।

प्रेम का वह विशाल उपवन, जिसके लिए वह सोचती थी, जीवन-वृक्ष फूलेगा और फल देगा, क्या पलक मारते ही नष्ट हो सकता है? प्रेम··प्रेमी·· और प्रेमिका···कौन? वही लाल आकार और प्रेमी? सच या झूठ, वह फरफराहट, वह हिल-हिल कर पूछता है—सच या झूठ? दोनों, सच और झूठ भी। क्या प्रेम?......हाँ, हाँ, प्रेम······वही फरफराहट···प्रेमी · वही लाल आकार ··प्रेमी···वह प्रेमिका—वही लाल·····लाल·····एक अतृप्त

आकांक्षा-सी ?......नहीं, तृप्त......सब कुछ सच—बिलकुल ठीक—प्रत्यक्ष-सा और फिर वही झूठ—बिलकुल झूठ !

सूबेदार सब प्रसंग नमक-मिर्च लगा कर कह रहा था; ताकि उसकी कथा में मनोहरता आये। 'रानी' उसकी कोई प्रेयसी थी, जिसका त्याग उसके हृदय में शूल बन कर सदा आँखों के आगे भूला करता, जीवन रंग भूमि पर ताण्डव नृत्य करता। उस प्रेयसी को सूबेदार भी नहीं जानता था।

'प्रेयसी !'

इसके हृदय में अट्टहास हुआ—ठीक तो रहा। उसने प्रेम किया था, इसमें उसका क्या दोष ? फिर वह चौंक उठी, मानो किसी ने उसके इस कथन को सुन लिया हो। और जब वह समझी कि वे प्रेम-पथ पर कुछ आगे बढ़ गये थे, बस इसी से उसके हृदय में एक बड़ा तूफान उठ खड़ा हुआ और उसकी आँखें लाल-पीली हो आईं; लेकिन वहाँ कोई भी न था......

टन, टन, टन, टन,......मन्दिर के घंटे की ध्वनि ! ग्राम्य महिलाएँ गंगा में नहा, शिवपूजा कर रही हैं। सिर पर ताँबे की कलसी एक हाथ से थामे, दूसरे में पंचपात्र में धूप, दूर्वा, फूल, रोली, नैवेद्य, विल्वपत्र आदि लिये मन्द गति से उधर बढ़ रही हैं। परिक्रमा करती-करती घंटियाँ टुना-टुना अपनी अतृप्त लालसाओं की पूर्ति के लिए वरदान माँगती होंगी। मन्दिर की ध्वजा फहरा-फहरा कर उनको प्रोत्साहन दे रही है और इधर वही मृत्यु-सूचक झाड़ी पर लाल-लाल चीर की फरफराहट, एक अत्यन्त हृदग्राही चित्रण, कवि की एक दुःखद कल्पना !

'क्या वह आयेगा ?'

हृदय में एकाएक यह प्रश्न उठा। फिर स्मृति की बात, पुरानी एक भूली याद, वह सामने का टीला, यहीं गायों का चराना, और वह मधुर गीत ! वह गुनगुनाने लगी।

'ठुमुक-ठुमुक चला काफल की डालि मा !'

इस आवाज में कुछ आह थी, कुछ कसक थी, कुछ करुणा थी और था कुछ दुःख; पर दूसरे ही क्षण उसकी वाणी एक स्मृति के साथ अठखेलियाँ

करने लगी। अब उस गीत में करुणा न थी, विलाप न था, उसमें आनन्द था, चापल्य था, रम्यता थी; वह वियोग का करुण क्रंदन नहीं था, मिलन का मधुर संगीत था।

...फिर धुंधली याद।

कभी पिछले दिनों तीन दिन माधो अपनी रानी से कुछ नहीं बोला था। रानी भी तीन दिन गायें चराने न गई थी; क्योंकि उसकी माँ ने उसे रोक लिया था। वह उन दिनों अकेला ही बन में गायें चराता था। चौथे दिवस जब रानी पहुँची, तो वह एक टक इस झाड़ी की ओर देख रहा था। उसने अपनी रानी का विचित्र-सा वेष देखा। हाथ हल्दी से रंगे थे, लाल मखमल की वास्कट पहने थी, गले में चाँदी की हँसुली थी। उसने सब देखा और न जाने क्यों उदास हो गया? शायद उसने सोचा होगा कि वह एक लालसा को लिये घुट-घुट कर मर जायगा।

रानी उसे देख चकित हुई। उसके हाथ का दोना, जो वह साथ लाई थी, छूट पड़ा। वह भयभीत हो उसे देखने लगी। वह आराधिनी की भयभीत रहस्यमयी चितवन न थी, निर्दोष का सरल कौतूहल था...

'यह क्या है?'—माधो ने पूछा।

रानी ने कहा—वाह! जैसे तुम कुछ जानते ही नहीं। कल मेरी मँगनी हुई है, तीसरे साल विवाह होगा। न जाने तुम कहाँ थे। कल-परसों तुम्हारा पता न चला, सब ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये। लो, मेरी मँगनी के लड्डू तुम भी खाओ।

दोना खोल कर उसने सामने रख दिया। माधो को इस सरल बालिका के भोलेपन पर प्रसन्नता हुई; क्योंकि वह विवाह का मर्म न समझी, इसीसे उसने विशेष आग्रह से अपनी वेदना छिपाते हुए पूछा—रानी, ब्याह में क्या होगा?

'बारात आयेगी, मिठाई बनेगी और मेरा दूल्हा आयेगा। वाह! जैसे कि तुम कुछ जानते ही नहीं!'—वह थिरकती हुई खुशी से बोली।

उसने अत्यन्त सरल हँसी हँसते हुए पूछा—दूल्हा तुझे साथ ले जावेगा तो?...

'मैं उसके साथ थोड़े ही जाऊँगी, तुम्हारे साथ रहूँगी।'

और इसके दूसरे दिन माधो विदा लेकर चला गया था।

आज वह आनन्द कहाँ, उल्लास कहाँ! वह सब समझ गई कि वह उसे इस तरह छोड़ कर क्यों चला गया था।

क्या वह आयेगा?

उसकी राह देखते-देखते दो साल कट गये। तीसरा भी कटने को है, और उसके विवाह की तिथि भी आ पहुँची है; पर वह उसकी प्रतीक्षा में है। माधो उसी का है, इसी से वह सोच रही है कि विवाह हो जाने पर वह दूसरे की हो जायेगी। तब वह उसके जीवन में पूर्णिमा कर सकेगी; मगर स्वयं उसके लिए पूर्णिमा नहीं बन सकती, बस वह इसी लिए अनिमेष नेत्रों से उसकी बाट जोह रही है। जीवन की वह एक व्यर्थ आशा है; क्योंकि जीवन की सब आशाएँ पूर्ण नहीं होतीं, फिर भी लोग उनके सहारे बैठे रहते हैं। यह तो उनमें ही है। संसार से अनभिज्ञ ही ठहरी।

उसका आज वह प्रसन्न मुख न था, जिस पर कवित्त की सरलता बलि होती। समय के साथ-साथ चेहरे पर विषाद की रेखाएँ हिलमिल गईं, उनकी छाप स्पष्ट थी। क्या अब वह देवपूजा के उत्सर्ग-सी रह जायगी। उसने प्रेम किया; लेकिन वह तो प्रतीक्षा बन गया, जिसमें एक कसक थी, एक आह थी! प्रेम का वास्तविक रूप समर्पण है। प्रेम अत्यन्त सरल है, जिसके बदले की लालसा करना भूल है। यह प्रेम पापमय तो नहीं? क्योंकि अब तो दोनों दो भिन्न-भिन्न लोकों की वस्तुएँ हैं; लेकिन कलुषित नहीं हैं, पवित्र हैं, अग्नि के समान, प्रकाश और पवन के समान निर्मल हैं .. लेकिन सब शून्य। अन्तरात्मा फफक-फफक कर रो उठी—मन में द्वन्द्व मच गया—वह एक अपूर्व चेतना से भभक उठी।

'मैं शीघ्र लौट आऊँगा रानी?'

शून्य हृदयाकाश में उठी हुई यह प्रतिध्वनि भी क्रमशः क्षीण होते-होते न जाने कहाँ विलीन हो गई। उस छोटे से लाल-लाल चीर ने फरफराना छोड़ दिया। प्रकृति शान्त हो गई, सामने की नदी का किल्लोल चुप-सा

था। शान्ति का-सा भास हुआ। हृदय की धुकधुकी अविरल गति से, मोहनी मंत्र से खिंची जा रही थी। विक्षुब्ध हृदय की विजनता कैसी अतल है, मानसिक वातावरण का अन्धकार कैसा अभेद्य है। धीरे-धीरे उसे चैतन्यता हुई। उसने अपने को देखा—वह तो नव-वधू के से वेष में थी, मानो........

अब उसके कानों में वाद्यों के शब्द सुनाई दिये। उसने गाँव की ओर दृष्टि फेरी, उसके गृह में लोगों का समारोह था, विवाहोत्सव के मंगल-गीतों का शब्द था और उसके विवाह की घड़ी, आते-आते इतने निकटतम आ गई, कि उसे कुछ ज्ञात ही न रहा। अब सोचने-विचारने लगी, चुपचाप घुटने टेक कर प्रार्थना की......और साथ-ही-साथ एक मलिन, कुटिल भाव उदय हुआ।

'इतनी उपेक्षा! क्या नारी-हृदय इतना उपेक्षणीय है?...' फिर दूसरे क्षण वह एक काल्पनिक प्रवाह में बह गई। वह लाल-लाल चीर न जाने एकाएक कहाँ लोप हो गया। वहाँ पर माधोसिंह की-सी छाया थी। एक क्षीण स्वर भी सुनाई दिया—

'तुम्हारी तपस्या सफल हुई। विवाह-मण्डप में जाओ, यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है।'

वह आँखें फाड़-फाड़ उसे देखने लगी, मतवाली बन कर उसे चूमने को झुकी। वह वहाँ न था। लाल-लाल चीर फरफरा रहा था। वह मंत्र मुग्ध-सी खड़ी हुई थी। साँस में अनियमित वेग था। वह माधो का-सा स्वर था। इसकी आन्तरिक अशान्ति स्तम्भित हो गई। शरीर पर से सम्मोहनी थकावट हट गई और वह हल्की हुई। सारा शोक, सारी कातरता, सारा संताप, अवहेलना के इस प्रखर प्रवाह में बह-सा गया। ठीक इसी एक सम्बन्ध को स्थापित करने वह चला गया था और इसीके लिए उसने अपना जीवन तक दे दिया था। कुछ सोच-समझ कर वह मुड़ी और मन्थर गति से विवाह-मण्डप की की ओर चली......।

इधर वह एकाकी चीर अपनी अतृप्त आकांक्षा को क्षण भर के लिए भूला-सा, मतवाला बन कर फिर झूम उठा।

कुछ रोज

छत पर सुबह की धूप में बैठी हेम, सूनी और फीकी आँखों से देख रही थी—अलसी के ही फूलों से भरे खेत, चारों ओर हरियाली, सामने घना आम और लीची का बाग और वह सुन्दर छोटा संगमरमर का तालाब! तालाब के नीले पानी और सफेद पत्थर पर आँखें जरा अटक, फिर हट जातीं थीं। दृष्टि चाहती थी उसी पानी के भीतर छिपकर रह जाना; किन्तु मन की अकुलाहट से वह खुद अनमनी थी। आज उसे बिलकुल छुट्टी है। सारे झगड़े मिट चुके हैं। कुछ फिक्र नहीं है। इतने दिनों तक जिन सारी परिस्थितियों के बीच वह रही, उनको अब जीवन से छुटकारा मिल चुका है। वह अब बिलकुल अस्त-व्यस्त बैठी हुई थी। सारी का छोर जमीन पर पड़ा का पड़ा ही था। अपने शरीर को पूरा ढक लेने वाली लाज, उसे वहाँ पर नहीं थी। इस एकान्त में वह निभ जाती है। एक बड़े अरसे से, यहाँ बैठना सीख कर कब-कब अपने को समझा लेना नहीं चाहा है। घर का सवाल, जमींदारी के झगड़े, अदालती मुकदमे—इन सब पर यहीं बैठ कर कुछ-न-कुछ तय कर लेती है। उन सब और सारे झगड़ों का निपटारा अब हो गया है। सब मिट चुके हैं। वह स्वतन्त्र है और कुछ देर बाद ही अब वह अपने मामा के यहाँ चली जायगी।

इतने में एक तीक्ष्ण चुभती सीटी की आवाज उसने सुनी और अनायास ही उसके मुँह से हल्की सीटी, सी-सी करती अनजाने निकल गई। अब अपनी गलती पकड़, वह सिहर उठी। फिर भी लाचार थी। छिपकर ही कहाँ जाती। एक बार वह उसकी बात का उत्तर दे, उसे बुला चुकी थी। उसके आगे खड़े होने की सामर्थ्य भले ही उसमें नहीं थी, फिर भी उसने नहीं चाहा। सम्भल कर अपने भीतर-ही-भीतर कुछ समाधान करने को ऊहापोह करती रही।

सुमन आया था। धीमी, गुनगुनाती सीटी बजाता हुआ आते ही बोला, "हेम !"

हेम ने उलझन में उसे देखा और चुप रही।

सुमन ने हेम को अच्छी तरह देख कर कहा, "छीनी, अब क्या सोच रही है ?"

वह क्या सोच रही थी, खुद नहीं जानती। वह कुछ जान लेना जरूर चाहती है, लेकिन मन में भीतर एक भारी हल्ला और झगड़ा-सा मचा था।

सुमन तो चुप नहीं रहा। उसने चुपके हेम के सिर के खुले बालों को अपने हाथ पर उठा लिया और उन्हें पीठ तक खूब फैलाता हुआ बोला, "इनकी बार-बार याद आती थी।"

आज तक अपनी लज्जा-संकोच न करने वाली हेम अब लाज से भरने लगीं। उसने बालों को एक ओर कर, जूड़ा बना लिया, और फिर सारी से सिर ढका। इन बालों की तारीफ सुमन से सुन कर उसे बड़ी खुशी होती थी, पर आज उसे वह खुशी खोजे नहीं मिली।

गूँगी हो रही हेम से कुछ उत्तर न पाकर, सुमन उसे झकोरते हुए बोला, "बोलती क्यों नहीं ?"

सुमन को यह कब मालूम था कि इन चन्द सालों में ही उसकी छीनी बदल गई है। दुनिया के झगड़ों के भारी थपेड़ों के बाद, अब उसमें उत्साह नहीं है। वह निर्जीव है और उसमें जीवन डाल कर, उसके सोये विद्रोह को जगाना अनुचित होगा। वही अपनी पुरानी बातें सुमन जानता है। उसमें कहीं रद्दोबदल नहीं हुआ। हेम को उसने चिट्ठी डाली थी और स्टेशन पर उसे न पाकर उसे अवश्य ही आश्चर्य हुआ था। वह मामा के घर आया है और फुरसत पाते ही यहाँ दौड़ा आया। आकर ही उसने हेम को पकड़ लिया। समझा कि कुछ गुस्सा है, हेम का स्वभाव ही ऐसा था। इसी लिये वह उसे छेड़ कर, तंग करने की धुन में था।

हेम अब कुछ होश में आई। सब दुःख और पीड़ा भूलकर बोली, "कोई ऐसे भी एकदम जनाने में चला आता है।"

सुमन, "क्या !"

"नीचे बुआ के पास जाकर बैठो।" कहती हुई हेम छत की सीढ़ियों की ओर बढ़, खट-खट-खट नीचे उतरी और अपने कमरे में चली गई।

सुमन चुप रह गया। हेम का यह जनानखाना उसकी समझ में नहीं आया। कब इसकी स्थापना हुई है ? उसे तो कुछ मालूम नहीं। तब क्या उसका इस तरह आना अपराध था ? हेम ने मन में न जाने क्या सोचा हो, लेकिन यदि हेम सीटी का जवाब न देती, वह एकाएक इस तरह छत पर नहीं पहुँचता। बड़ी मुश्किल से उसने हेम को सीटी बजाना सिखलाया था। फिर हेम का यह व्यवहार समझ में नहीं आया। वह तो कई बातें पूछने को था। हेम ने आखिर उसकी चिट्ठियों का जवाब क्यों नहीं दिया ? हेम की चिट्ठियों की उसने कितनी प्रतीक्षा की थी। हेम तो वैसी ही है, बाहर कुछ बदली नहीं लगती।

हेम अपने को स्थिर नहीं कर पायी थी कि इतने में सुमन ने एकाएक आकर एक भारी उलझन पैदा कर दी। सुमन का आना वह सुन चुकी है। इसी लिये वह जल्दी-जल्दी यहाँ से भाग जाने की फ़िक्र में थी। दोपहर तक सब कुछ इन्तजाम हो गया होता। यदि सुमन शाम को आता, तो उसे खाली इमारत के अलावा कुछ नहीं मिलता। लेकिन परिस्थितियाँ अब बदल गई थीं। आखिर सुमन क्यों आया है ? हेम के मन में उस पर भारी गुस्सा चढ़ता गया। इतना ही नहीं, आज वह उस पर अपने सारे अधिकारों को अक्षुण्ण्य समझता है। यह समझकर हेम सुमन को दोष देना नहीं चाहती। आज तक वह उसे अपने से हटाये ही रही। कारण, वह व्यर्थ का झगड़ा नहीं चाहती थी। अपने भारी सब्र की वजह से वह मन-ही-मन सारी बातों को मिटा डालना सीख गई थी।

सुमन तो वही पुराना है। चार साल पहले जैसा था—वैसा ही। यदि कुछ अन्तर है, तो इतना ही तब एफ़्० ए० की परीक्षा देकर अपने मामा के गाँव आया था, और आज एम० ए० एल्-एल्० बी० होकर आया है। अब आगे उसे पढ़ाई की कुछ फ़िक्र नहीं है। कई बार सुमन ने चाहा था कि अपने मामा के घर जाकर अपनी छीनी को देख ले ; पर मौका नहीं मिला। उसकी माँ

गरमी की छुट्टियों में उसे कहीं नहीं जाने देती थी। आज वह मामा का न्योता पाकर आया है; लेकिन मामा से अधिक अपनी उस हेम को देखने आया है, जिसे वह हृदय से चाहता था। वह हेम तो अब बिलकुल निर्जीव है। न-जाने क्या हो गया। उससे भागती-भागती फिरने की सोच रही है। हेम सीढ़ी से उतर, नीचे अपने कमरे में चली गयी थी। हतबुद्धि सुमन खड़ा-का-खड़ा ही रह गया। चारों ओर नजर फेरी; समझ में कुछ नहीं आया। राह भर, उसने न-जाने क्या-क्या सवाल सोचे थे? इन चार सालों में वह कैसा रहा। अब उसका क्या इरादा है, सब कुछ जानने का अधिकार हेम को था। अब तक अपने दिल की कई बातें और किसी से कहते वह डरता था। इस हेम के आगे किसी की फिक्र नहीं रही।

लेकिन जिन्दगी सिर्फ कैरम का खेल नहीं है। चार साल पहले हेम और सुमन 'कैरम' का खेल दिन-भर बैठ कर खेला करते थे। हमेशा हेम जीतती थी। सुमन को अपनी हार पर अफसोस कभी नहीं हुआ। जान कर सुमन ने 'क्वीन' को लेने की कोशिश कभी नहीं की। हेम ने एक दिन पूछा था, 'क्वीन'' क्यों नहीं लेते?"

"बिना राजपाट के क्वीन का क्या होगा?"

"समझदार होते जा रहे हो" हेम मुस्कुराई थी।

सुमन अपनी उस समझदारी को समझ नहीं सका था कि हेम की बुआ ने कमरे में आकर कहा था, "सुमन अब बड़ा हो गया है रे!"

जवाब न देकर सुमन ने साष्टाँग प्रणाम किया था।

बुआ ने उसकी मा का नाम लेकर, न-जाने क्या-क्या पूछ डाला था। साथ ही उसकी मा और हेम की मा के सहेली भाव का सहज जिक्र किया था। हेम को तो वह सुनने की फ़ुर्सत थी नहीं, चुपके से बाहर चली गयी थी। आगे उसके और हेम के बीच कोई रुकावट नहीं पड़ी। हेम के मा नहीं, पिता नहीं; इसीलिये जमींदारी का भार उसके सिर पर था। सुमन कहता, "मुझे वकील होने दे हेम, बस मैनेजर बना देना।"

"अभी से मनसूबे बाँधना शुरू कर दिया।"

"अरजी दे देने में कोई नुकसान तो है नहीं।"

"तब यह कैरम-वैरम नहीं चलेगा, और......"

"और?"

"मैं बनूँगी मालकिन। तुमको मेरे सामने अदब से बातें करनी पड़ेंगी। बिना इजाजत तुम मेरे कमरे में नहीं आने पाओगे। सब शर्तें मान लोगे न!"

"लेकिन?"

"तब तो नौकरी हो चुकी। हमारे मुख्तार साहब ही ठीक हैं। साहब मैनेजर से हमारा काम चल चुका। दिन-भर मुँह में सिगार लगाये, पतलून की जेब में हाथ डालने से न तो मालगुजारी वसूल होगी और न ठीक इन्तजाम ही हो सकेगा। शहरी मैनेजर साहब भला गाँव में कैसे रह सकेंगे? चार दिन में भाग जाओगे।"

"मुझे सब काम सिखला देना।"

"पढ़ी-लिखी होती तो।"

"अब पढ़ लिख लो।"

"कोई ठीक-सा मास्टर नहीं मिलता।"

"यह क्यों नहीं कहतीं कि मास्टरी भी मुझे करनी पड़ेगी।"

"जब पिता जी जिन्दा थे तब एक इसाइन पढ़ाने आया करती थी। यहीं रहा करती थी। उनकी मौत के बाद मा ने उसे निकाल दिया, पढ़ाई वहीं खतम हो गई। काम चला लेती हूँ। ज्यादा पढ़कर ही क्या होगा? हमारे लिए इतना काफी है।"

"मैं कहीं नौकरी ढूँढ़ लूँगा। वैसे तो वकालत चलने की पूरी उम्मेद है।"

"और यहाँ की देख भाल?"

"क्वीनी करेगी।"

हेम हँस पड़ती। कहती, "क्वीनी खाक करेगी? इतनी बड़ी जिम्मेदारी उससे नहीं निभेगी। रोज ही मुख्तार साहब कहते हैं—बेटी, इस तरह तो काम चलने का नहीं। यहाँ के झगड़ों से तंग आ गई हूँ। कुछ-न-कुछ झगड़ा लगा ही रहता है। एक मिनट को चैन नहीं है।"

"तभी तो कहता हूँ, सिर्फ चार साल की बात है।"

"फिर कौन किसकी परवा करता है।"

"बात क्या है?"

इसका उत्तर न देकर, हेम कहती, "बाग में घूमने नहीं चलोगी?"

सुमन हेम की ओर देखता ही रहा जाता था। वे दोनों बाग में पहुँच जाते। बाग का नौकर मालकिन को देख, झुक कर सलाम करता था। सुमन हँसकर कहता, "मैं तो ऐसी लम्बी सलामी नहीं करूँगा!"

हेम जवाब देती थी, "तब तुम्हें रख ही कौन रहा है? क्लेक्टर साहब कहते थे, कोई अँगरेज मैनेजर रखना ठीक होगा। लेकिन मैं ठहरी फूहड़। उससे बातें करने की भी तमीज नहीं है।"

इतने में माली बहुत-सी अच्छी-अच्छी लीची और आम ले आता था। हेम और सुमन, तालाब के किनारे बैठ उनको खाने लगते थे। सुमन खाता-खाता कहता, "आदत खराब होती जा रही है। शहर में तो ऐसी लीचियाँ मिलेगा नहीं।"

"पारसाल कराके बाग से भेजवा दूँगी।"

"तो बदले में मैं भी कोई अच्छा तोहफा भेजूँगा।"

"क्या?" वह कुतूहल से पूछती।

"बताने से महत्व घट जायगा।" सुमन उत्तर देता।

"अच्छा बता दो।"—हेम मनौती करती।

"कुछ फायदा नहीं होगा।"

"फिर भी?"

"यही 'थैंक्स' लिखकर भेज दूँगा।"

"अँगरेजी पढ़कर मलेच्छ हो गये हो न!"

"साहब लोगों का यही दस्तूर है।"

"लेकिन तुम तो वैसे साहब नहीं हो।"

सुमन चुपके से उठता और बड़ा-सा पत्थर पानी में डालकर पानी को उछाल देता था। बहुत-से छींटे हेम के ऊपर पड़ जाते थे। वह बनावटी

गुस्से के साथ कहती, "तुम्हारी यह हरकत ठीक नहीं है।"

"क्या ?" कह कर सुमन दो-तीन पत्थर और पानी में डाल देता था। हेम की साड़ी भीग जाती थी। सँभल कर वह कहती थी, "नौकरों के सामने इस तरह का मजाक ठीक नहीं होता। वे अपने मन में क्या कहेंगे ?

"क्या कहेंगे ?"

"तुमको तो लाज-शरम थोड़े ही है। मुझे तो हर एक का लिहाज चाहिए। लोगों में काना फूसी होते क्या देर लगती है ?"

इस शिक्षा पर सुमन चुपचाप मुरझा-सा जाता था। फिर दोनों उठकर बाग में घूमने लगते थे। हेम उस को सब नये पौधे दिखलाती थी। उसके पिता को इस का बड़ा शौक था। एक तरफ बड़े-बड़े मोटे-मोटे गन्ने देख कर सुमन उसको तोड़ने के लिए बढ़ता था। हेम मना करती थी। कहती, "नहीं, ये दवा के लिए हैं। इनके नीचे मरे हुए साँपों की खाद है। जिस आदमी को साँप काटता है, ये उसे खिलाये जाते हैं। हम दूर-दूर के लोगों को देते हैं। इसी से इनकी इतनी हिफाजत की जाती है।"

सुमन जब घर लौटने लगता, तब हेम कहती, "बुरा तो नहीं मान गये ?"

"बुरा ?"

"तुम्हारे गुस्से की तारीफ तुम्हारी मामी से सुन चुकी हूँ। हम दोनों एक-से ही हैं। रोज इसी की चर्चा रहती है।"

"लेकिन मुझसे तो ....।"

"इतने बड़े भार को लिये हूँ। नौकर-चाकर और जमींदारी पर हुकूमत तो करनी पड़ती है। कल आओगे, तब देख लेना।"

दूसरे दिन हेम बाहर आँगन में बैठी हुई थी, इतने में सुमन पहुँच गया। उसके पास कुर्सी पर चुपचाप बैठा रहा। सामने कोई गाँव की काली-कलूटी औरत बैठी हुई थी।

हेम ने पूछा, "क्या है ?"

"मैं उसके साथ नहीं रहूँगी।"

"अभी शादी हुए पूरे दो महीने नहीं हुए और झगड़ा शुरू हो गया!

बात क्या है ?"

"वह मुझे मारता है।"

"कोई कसूर करती होगी।"

"वैसे ही मार देता है। कुछ कहती हूँ तो धमकी देता है कि नाक काट लूँगा। मालकिन, मैं तो आज जा रही हूँ। लौट कर कभी नहीं आऊँगी।"

"गिरवर कहाँ है ?"

"कस्बे चला गया।"

तब हेम सुमन से बोली, "लो, तुमही इनका झगड़ा निबटा दो। वह कहता है कि यह खराब है, यह और कुछ कहती है। किसकी मानी जाय ?"

सुमन की समझ में बात नहीं आई। वह चुप रहा।

"अच्छा, आज चली जा। मैं उसे समझा दूँगी। महरी से कपड़ा और खाना माँग ले। झगड़ा नहीं किया करते।"

जब वह चली गई, तब हेम ने कहा, "बात कुछ नहीं है। यह ठहरी अपने पिता की अकेली लड़की। मायके में स्वतन्त्र रह कर ज़िद्दी हो गई है। बस बात-बात में झगड़ा हो जाता है। वह इसकी खूब मरोम्मत करता है। यह अक्सर मायके भाग कर चली जाती है।"

ऐसे झगड़ों का निपटारा सुमन के वश का नहीं था। वह भला यह सब क्या जाने ? इतने में मुख्तार साहब आगये।

"क्या है चाचाजी ?" हेम ने कहा,

मुख्तार साहब ने एक बार सुमन पर पूरी-भरी दृष्टि फेरी थी कि हेम ने बात सुलझा दी, "सुमन बाबू हैं। अपने मामा के घर·········।"

"हाँ, हाँ, कब आये ? पढ़ रहे हो ? मा अच्छी है ? उसकी तबियत अब कैसी रहती है ?" एक साथ कई प्रश्न उन्होंने पूछ डाले थे।

ठीक-ठीक नपे-तुले जवाब के बाद, बड़ी मुश्किल से सुमन ने पीछा छुड़ाया तब हेम बोली, "उस मुकदमें को पेशी सब-जजी में कब है ?"

"कल। उसी के बारे में पूछने आया हूँ। कैलाश बाबू पैरवी करेंगे। मैं खुद आज शाम की लारी से चला जाऊँगा।"

"पूरा एक साल हो गया।"

"जायदाद का झगड़ा ठहरा। अदालत और हुक्काम जब चाहते है, पेशी लगा देते हैं।"

"उस गाँव की छूट का क्या तय किया?"

"सब मक्कार हैं। एक पैसा माफी नहीं दी जायगी।"

'गुमाश्ता तो कहता था कि फसल खराब हुई है।"

"वह उनसे मिल गया है।"

"मैं वहाँ जाऊँगी।"

"वहाँ जाओगी?"

खुद देख आऊँ। क्यों सुमन बाबू, गाँव चलोगे?"

"हाँ-हाँ!" सुमन बोला।

"तब परसों हमारे जाने का इन्तजाम कर दो।"

"लेकिन, वहाँ तो ... ।"

"क्या?"

"पानी बरसा नहीं है फिर गरमी का मौसम है। जरा पानी बरस जाय ... ।"

"मुझे तो वहाँ जाना ही है। आज न सही, कल जाऊँगी। एक बार सारा इलाका खुद देखे बिना काम नहीं चलने का।"

हेम के हठ के आगे कोई कुछ नहीं कह सकता था। बस, तीसरे दिन सुमन और हेम एक सुन्दर रथ (बैलगाड़ी) पर गाँव पहुँचे थे। गाँव की हालत देख कर सुमन अवाक् रह गया। उतनी नग्नता और गरीबी का ख्याल उसे नहीं था। छोटी-छोटी झोपड़ियों के कच्चे मकानों का गाँव था। एक ओर जरा हटकर, जमींदार का पक्का मकान था। उसकी हालत गाँव की हैसियत के साथ मैली हो रही थी। हेम और सुमन बाहर नीम के पेड़ के नीचे चबूतरे पर बैठ गये थे। गाँव-भर के बूढ़े अपनी मलकिन की आवभगत में लग गये। हेम उस सब व्यवहार से परिचित थी; किन्तु सुमन अचरज में पड़ गया था।

वास्तव को जान कर भौचक्का-सा वह कुछ सोच ही रहा था कि हेम ने कहा था, "सुमन बाबू देहात पसन्द आया ?"

"पसन्द ! चारों ओर गोबर-गौंत की महक ने अजीब छी-छी उसके मन के भीतर पैदा कर रही थी। यह धन्धा, यह कारोबार, जिससे वह परिचित नहीं था ! एक ओर गुमाश्ता खड़ा था। उसका पहनावा गाँव की गरीबी के विपरीत था। हेम मोटी धोती पहने थी। सुबह सुमन ने तकरार की थी कि उसे सुन्दर सारी में चलना चाहिये। तब हेम ने मजाक किया था, "दुलहिन की तरह वह ससुराल थोड़े ही जा रही है।"

इसका जवाब मिला, "एक-दो साल का और इन्तजार है।"

हेम सतर्क हो गई थी। बाहर नौकर-चाकरों को हुक्म देती समझा रही थी कि, तरकारी, आटा, चावल, सब कुछ जाय। साथ में बाबू के लिये चाय का सब सामान भी। पुरखिन की तरह सब व्यवस्था उनको सुझाकर बार-बार आगाह करती थी कि कोई चीज छूट न जाय। जब सब सामान एक बैलगाड़ी पर लद चुका था, तब साथ की नौकरानी को उसने हिदायत दी थी कि बाबू के पहुँचते ही खाना तैयार रहे। नौकरों को समझाया था— गाँव वालों से कुछ न लिया जाय। दस मील वह रथ का सफर था, खूब मोटा मुलायम गद्दा डाला गया था। गाँव का कच्चा रास्ता बहुत कठिन होता है धूप खूब लगती थी। सुमन की 'बर्नार्ड शा' की मोटी किताब ने साथ नहीं दिया। वह लाख पढ़ने की कोशिश करता; पर पढ़ नहीं पाता था। हचके लगते थे। तब हेम हँस कर कहती, "यह देहात है !"

सुमन कुछ भीतर कुढ़ जाता था। क्या वह नहीं जानता कि यह देहात है। बार-बार इस तरह सावधानी जताना ठीक नहीं लगा। हेम कहती, "व्यर्थ तुमको घसीट लाई ! कहीं तबियत खराब न हो जाय।"

"तबियत खराब नहीं होगी।"

"बड़ा खराब रास्ता है। मुख्तार साहब तो इधर आने का नाम नहीं लेते। आदमियों से सच्ची-झूठी खबरें सुन कर सही हाल मालूम नहीं हो सकता। इसी से आना पड़ा।"

खैर, किसी तरह गाँव पहुँच गये। भूख काफी लग आई थी। उधर हेम तो पंचायत के झगड़ों को सुनने में मशगूल हो गई। सुमन गुमाश्ते से बोला, "नहाने का इन्तजाम हो गया?"

हेम ने बात सुन ली। कहा, "अभी तो धूप में चल कर आये हो। लू चल रही है। सुस्ता कर कुछ देर में नहाना।"

सुमन चुप हो रहा। पर कहना तो चाहता था कि भूख तेज लग रही है। उतने आदमियों के आगे कैसे कहता। हेम ताड़ गई। सुस्त चेहरा देख कर बोली, "भूख लगी होगी, नाश्ता कर लो। शरबत बना होगा।"

गुमाश्ता बड़े अदब से सुमन को भीतर ले गया। गाँव से समान माँग-मूँग कर कमरे सजाये गये थे। उस रुचि पर बार-बार सुमन हँस पड़ता था। नाश्ता शुरू करते हुए पूछा, "हेम नहीं खायगी?"

"मा जी? अभी तो पूजा-पाठ होगा।" महरी ने कहा।

"पूजा-पाठ कब होगा? दोपहर ढल चुकी है।"

इसका जवाब महरी ने नहीं दिया। न सुमन को ही कुछ और सुनने का उत्साह बाकी था। नाश्तकर, नेकर पहने ही वह पलँग पर लेट गया। बहुत थका था, सो गया।

कुछ देर बाद हेम कमरे में आई। कहा, "सो गये?"

"नहीं तो", सुमन कच्ची नींद में आँखें मलते-मलते उठा।

"नहा लो, रसोई तैयार है।"

सुमन चुपके-से उठा और गुसलखाने जाकर नहा आया। खाना खा लिया दिन-भर फिर वही भीड़! हेम गाँव की औरतों के बीच न जाने कितनी बातें कर रही थी। उसके पास भी कुछ लोग आ गये थे। वह क्या पूछे और जवाब दे? हेम गाँव की सारी बातों से परिचित थी। उसने इसी लिये आँखें मूँद लीं कि लोग खिसक जायँ। लोगों के चले जाने पर उसने किताब पढ़ने की कोशिश की। कई पन्ने उलटने के बाद उसे बन्दकर दिया। बाहर हेम की आवाज और हँसी साफ-साफ सुनाई पड़ रही थी। एक बार तो हेम भीतर आकर पूछ गई थी कि बुरा तो नहीं लग रहा है? इस शिष्टता और आचार

पर वह चुप रह जाता था। हेम के लिये उसके दिल में एक कोमल स्नेह है। उन दोनों के बीच के इस अजीब समझौते से घर के सब लोग दंग रह जाते थे। जो हेम हमेशा उदास रहा करती थी, उसमें न-जाने एक बार फिर कहाँ से जीवन आ गया था। हेम खुद अन्तर भाँप रही थी; उसने इस पर अधिक नहीं सोचा था। वह बेकार बात फैलाना नहीं चाहती थी।

शाम को सुमन अकेला ही खेतों में घूमने निकला था। वहाँ कुछ नहीं था। दूर तक खेत-ही-खेत--बिलकुल वीरान! वह निरुद्देश्य घूमता-फिरता रहा। कई बार उसने हेम के बारे में सोचा। हेम उसे भली लगती थी, यह एक कठोर सत्य था कि वह उसे अब प्यार करने लग गया है। आज तक यह बात कभी महसूस नहीं हुई थी। अब वह अनजान नहीं रहा। यह हेम जब दुलहिन बनेगी, कैसी लगेगी? जीवन में एक बार ब्याह होता है। वह अवसर काफी रंगीन लगता है, जो भविष्य में हमेशा कोरे जीवन के बीच चमकता ही रहता है। उस दिन खिलौने-से दोनों लगते हैं और फिर बाद को.........।

"बाबूजी!"

"क्या है रे?"

वही गुमाश्ता आ पहुँचा था। हाँफते हुए बोला, "आप तो बड़ी तेजी से निकल आये। मैं ढूँढ़ता ही रह गया।"

"मैं कोई कीमती चीज तो हूँ नहीं।"

"यहाँ भेड़िये ज्यादा हैं, अकेले दूर जाना ठीक नहीं। सामने ही तो जंगल है।

अपने जीवन की रक्षा का खयाल सुमन के आगे कम रहा है। आज तक वह निडर होकर चला है। अब क्या कोई डर था? वह घर लौट आया। बाहर मोढ़े पर बैठ कर, महरी से पूछा, "हेम कहाँ है?"

"चौके में।"

"चौके में?"

"खाना बना रही हैं।"

"इतनी गरमी पड़ रही है !" कहता-कहता वह भीतर पहुँचा। देखा, हेम चुपचाप चूल्हे के पास पटरे पर बैठी हुई थी।

"यह क्या हो रहा है हेम ?"

हेम ने आंचल ठीक करते हुए कहा, "नौकर-चाकर कहाँ ठीक खाना बनाते हैं। बुआ के हाथ का तो रोज खाते हो। आज मेरे हाथ की बानगी देख लो।"

"तो दावत देने की ठहराई है।"

"जल्दी नहा लो। खाना तैयार है।"

यह सब व्यवस्था लड़कियाँ आदि काल से चलाती आ रही हैं। उसके लिए सुमन ने तकरार नहीं बढ़ाई। कुछ देर बाद चुपचाप खाना खाने लग गया। खाना पकाने में हेम उस्ताद होगी, यह उसे पहले नहीं मालूम था। वह धीरे से बोला "क्वीनी।"

हिचक कर हेम ने इधर-उधर देखा, कोई नहीं था। सारा चेहरा गुलाबी पड़ गया। उँगली होठों पर रखकर इशारा किया कि चुप रहो।

सुमन भला कब चुप रहता। बोला, "सार्टिफिकेट मिलेगा।"

"अब पेट भर गया है न ! तुम्हारे लिये मैं एक इन्तजाम सोच रही हूँ।"

"क्या ?"

"यहाँ के मुखिया की लड़की से शादी करवा दूँगी।" हेम खिलखिलाकर हँस पड़ी।

"तो यह कहो कि दान देने की ठहराई है।"

"मैंने !" हेम पीली पड़ गई।

देहात के उस जीवन में सुमन ने देखा कि हेम को घमंड नहीं है। वह सब कुछ कर सकती है। उसका एक सुन्दर ढाँचा उसके दिल में बनने लग गया था। इस तरह पूरे दो महीने की छुट्टी काटकर एक दिन वह अपने मामा के घर से कालिज चला गया था। वहाँ से उसने चिट्ठी भेजी थी और हेम ने उसका जवाब दिया था। पहले साल लीचियों का पारसल मिला। उसके बदले

सुमन नें ढेर-सी किताबें व और चीजें हेम को भेजी थीं। फिर दोनों के बीच एकाएक चिट्ठी का सिलसिला बन्द हो गया था।

हेम के हृदय की पीड़ा अब बहुत बढ़ गई थी। यह सारी जमींदारी ही सारे झगड़ों की जड़ थी। रोज ही कुछ-न-कुछ लगा रहता था। जब एक दिन सुमन के मामा एक दस्तावेज लेकर पहुँचे कि हेम के पिता पर उनका ऋण है, तब हेम की समझ में कुछ नहीं आया। उसके पिता इस बारे में कुछ नहीं कह गये थे। यह महाशय हेम की जायदाद हड़प लेना चाहते थे। हेम सब देने को तैयार थी; किन्तु लोगों ने समझा बुझाकर उसे मुकदमा लड़ने के लिए मजबूर किया था। तीन साल तक काफी अदालती दौड़-धूप और खर्चे के बाद हेम हार गयी थी। अब उसे सब लोगों से--मनुष्य मात्रा से—भारी घृणा हो गई थी। वह सब से अलग रहना चाहती थी। सब एक-से उसे मिले। खुद उसका मुख्तार इस फरेब में शामिल था। हमेशा के लिये गाँव से जाने की ठहरा चुकी थी।

हेम के रूखे बर्ताव से दुखी होकर सुमन नीचे बुआजी के पास पहुँचा। वह बोली, "बैठ जा सुमन!" फिर पुकारा, "हेम! ओ हेम!! सुमन आया है।"

हेम भीतर चटाई पर चुपचाप बैठी थी। कुछ नहीं बोली। भीतरी-ही-भीतर उसका मन उमड़ रहा था। बुआ भीतर जाकर बोली, "चल हेम, सुमन से हमारा क्या झगड़ा है।"

यह सुनकर सुमन भीतर आ गया और आश्चर्य से बोला, "कैसा झगड़ा हेम?"

"कुछ नहीं, यही जायदाद का मामला था। तेरे मामा ने अपने कर्जे में इसकी सब जायदाद जीत ली है। यह मकान और थोड़ी जमीन रह गई है।"

हेम फिर भी कुछ नहीं बोली। अब सुमन ने पास आकर प्यार से पूछा, "क्या बात है हेम?"

हेम ने कुछ जवाब नहीं दिया।

बुआ ने कहा, "और देख तो बेटा, गुस्से के मारे वह अपने मामा के घर

जा रही है। लाख वे बड़े हों, अपने घर की इज्जत और ही होती है।"

इतने में महरी आकर बोली, "माजी, बैलगाड़ी आ गई। क्या-क्या सामान लदेगा?"

"तो पूरी तैयारी है!" कहता हुआ सुमन हैरत से हेम की ओर देखने लगा।

अब हेम उठी और सिर झुकाये ही बाहर चली गयी। बुआ के पास जाकर बोली, "तुम यहीं रहो। मुझे तो जाना ही है।"

सुमन ने सब सुना, पास पहुँचकर पूछा, "कहाँ जा रही हो हेम?"

"जहाँ मेरी मर्जी होगी। यहाँ एक मिनट नहीं रहना चाहती हूँ।"

"तब क्या मामा के घर जाकर......" आगे सुमन नहीं कह सका।

"मैं तो समझाते-समझाते थक गई।" बुआ कुछ बोली।

"बुआ, तुम अपनी बातें रहने दो। मेरा सिर झुक गया है। अब मेरे पास बाकी क्या बचा है? मैं भिखारिन हो गई हूं।"

"हेम!" सुमन ने कहा।

हेम चुप!

फिर सुमन ने पुकारा, "हेम!"

"हेम उसी तरह चुप रही।

"हेम तुम नहीं जा सकती हो।"

हेम ने सुमन की ओर आँखों उठाकर देखा। क्यों सुमन, उसे रोक रहा है? क्या वह रोक सकता है?

"तुम नहीं जा सकती। इस तरह यह हार स्वीकार नहीं हो सकती है। कागजात कहाँ है लाओ? अपने मामा के खिलाफ यह मुकदमा मैं फिर से लड़ूंगा। तुम हार गई हो। मैं इस अन्याय के आगे सिर नहीं झुकाऊँगा।"

बुआ ने हेम से पूछा, "क्या बात है?"

"मैनेजर को चार्ज देकर मैं जिम्मेदारी से बरी हो गई बुआ।" यह कह कर हेम हँस पड़ी।

सरोज को एक पत्र

प्रिय सरोज,

पत्र भर लिख देने का अधिकार भी तो तुम अब छोड़ने पर तुली हो। तुम पत्र न लिखो, नहीं लिखो सही, पर बार-बार, लिख-लिख कर क्यों पूछती हो, कि अब नहीं लिखूँगी—अवकाश नहीं मिलता, बच्चे के मारे तंग हूँ। घर के काम-काज से फ़ुरसत कहाँ है? यही बहाना पाकर जैसे मुझे उबार लेने की व्यवस्था तुमने सोच ली है। मैं उस उत्तरदायित्व से बरी ही कब था। न आज तक कोई आनाकानी वाला तकाजा ही मैंने पेश किया है। तुम तो इन सब बातों से परिचित ही हो।

ठीक अपने जीवन में एक अभाव होता है। जो कि हर वक्त दिल को कुरेद कर पीड़ा पहुँचाना जानता है। व्यक्ति का उपकार भी वही एक है। अब दिल की उस भीतरी पीड़ा को किसी के साथ बाँट कर, कोई फायदा नहीं होगा। तुम तो मेरे लिये बिलकुल अलग हो। तुम्हारी यह चिट्ठी सारी पढ़ डाली कुछ उलझा; किन्तु समझ से तोल कर पाया कि······?

और तुम यह क्या कर बैठी! मुन्ना ने सारी लिखी-लिखाई चिट्ठी बिगाड़ डाली थी, तो दूसरी ही लिख लेतीं। सारा पत्र, लिखा-अधलिखा, मिटे अक्षरों का एक ऐसा जाल लगा कि मैं असमंजस में पड़ गया। यही तुम चाहती होगी।

लगता है, मुन्ना को आगे कर तुम अपने को अलग रखना चाहती हो। मुन्ना के पीछे छिपी तुम्हारी मुस्कान मैं पा जाता हूँ। मुन्ना को आगे रखना चाहो रख लो। अपने घर पर ही मुन्ना से आगे तुम कब आई थीं? मुन्ना की आड़ में बिरानी बनी भर ही तो रहीं। याद है, जब मुन्ना सो गया था, तभी तुम चली गई थीं और फिर नहीं आईं; गो कह गई थीं कि अभी-अभी मुन्ना को सुला कर आती हूँ। जब दो घण्टे बाद आई तो मुन्ना फिर गोदी में था···!

मुन्ना को पकड़ कर उस दिन की तुम्हारी शरारत, कभी-कभी जीवन से छिटक अलग खड़ी हो, कुछ सुझाती लगती है। जरा हँसी भी आती है।

मुन्ना से तुमने पूछा था, इन्हें क्या कहेगा ?'

मुन्ना क्या कहता ! कुछ जाने तब तो । वह अचकचा गया था । दो ही बातें उसने सीखी थीं—पापा और मां । और वह क्या कहता ?

और तुम उसके मुंह से कुछ कहलाना क्यों चाहने लगी थीं । अपनी थिरकती हुई खुशी में भूल गईं कि मुन्ना को कुछ कहना जरूरी नहीं है ।

माना कि वह मजाक़ ही था । जीवन में हर एक बात का कुछ महत्व होता है । लेकिन फिर····· ?

तुम्हारा मुन्ना शायद ज्यादा समझदार था । वह चुप ही रहा । तुम फिर भी नहीं मानीं । उसके गाल पर चुटकी काटते हुए पूछ बैठीं, 'बोल रे, इन्हें क्या कहेगा ?'

और जब कुछ कहने के लिये उसने मुंह खोला, तो तुमने उसके ओठों पर उंगली रख दी । वह चुप हो गया । 'पा' वह कहना चाहता था कि तुमने हँस कर उसका मुंह अपनी हथेली से दबा लिया था ।

आज कहती हो, 'अब चिट्ठी नहीं लिखूँगी ।' न लिखो, न सही; एक रेखा खींचकर इस तरह डराना क्यों चाहती हो ।

आखिर ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी थी जो अपनी चिट्ठी में लिखा कि वह साड़ी क्या भेजी और मुन्ना को खिलौने······। माना कि मेरे पास पैसे अधिक नहीं हैं । न आज पैसे ही तुमसे मांगने का मेरा हक है । तो मैं मन पसन्द चीजें नहीं भेज सकता ? लेकिन उस तरह तुम्हारा उपहास उड़ाना मुझे उचित नहीं लगा । अब तो तुम में कुछ भारीपन आ जाना चाहिये···।

और, सच कहना, आज से पांच साल पहले तुमने ऐसी ही साड़ी मुझसे नहीं मंगवाई थी । मैं तुम्हारी एक-एक बात याद रख कर चलता हूं । पिछले महीने एक दिन दूकान पर पहुंचा । नये-नये 'डिजायनों' की साड़ियां सजी थीं उनको देख रहा था कि कुछ चलती-फिरती 'गुड़ियां' उस दूकान पर कपड़े खरीदने आईं । एकाएक अपना अभाव अखरा, लेकिन उनमें एक बिलकुल तुम जैसी थी । तभी लगा कि तुम समीप हो । वैसे बोलने का कौन सा अधिकार पास था ।

उस लड़की ने गुलाबी साड़ी खरीदी। तुम भी तो गुलाबी साड़ी पसन्द करती थीं न? तुम्हारे उस छरछरे, गोरे बदन की स्मृति हरी हो आई। जब वह गुलाबी साड़ी पहन सकती है, तो तुम क्यों न पहन लो! यही साड़ी खरीदने की बात है। फिर याद आया, तुम अकेली नहीं—मुन्ना साथ है। मुन्ना को कुछ भेजना जरूरी लगा। अटका था तुम्हारे स्वामी पर—वह व्यक्तित्व मैंने भुला डाला; जैसे कि वह पहचान से परे हो। क्या ऐसी ही साड़ी के न मिलने पर तुम कभी बीते एक दिन को मुझ से नहीं रूठी थीं। वह रूठना और तुम्हारा गुस्सा फिर आँखों के सन्मुख आया।

स्वामी की गोदी में अपने को पाकर तुम अपने को, मुझे और दुनिया—तीनों को भूल गईं। तुमनें ही कोई गलती नहीं की। अपने दायरे को नाप, समझ लेने में सुविधा ही होती है। वैसे कभी-कभी तो उसकी चेतना दुःखद लगती है—वह एक अभाव बन जाता है। लेकिन तुम्हारे पास इतना अवकाश कहाँ है, जो उसे उभरनें का मौका मिल पाये? मुन्ना है, घर का कामकाज है, 'वे' हैं, और और बहुत-सा ढेर सारा काम हैं......।

और मैं........?

अपने जीवन की दुरूहता मुझे ही पार करनी है। सब कुछ जीवन में सिकुड़ा धरा है। दिल पर भारी गड्ढे पड़े हैं। घाव वे नहीं, दुखते कहाँ हैं। जीवन का अभाव अब भरपूरता में ढल चुका है। उसी से अपने को बहला लेता हूँ। यह साधन किसी तरह मेरे हक में बुरा नहीं है। अपना परखा ज्ञान ही अब अधिक धोखा नहीं दे पाता। कारण कि 'अप्राप्त' को उपाय मानकर आज चलना सीख गया हूँ।

कभी जी करता है तुमको देख आऊँ। दो साल कट गये। अब तो तुम बहुत बदल गई होगी। बचपन की वह शेखी एक दिन छूट ही जाती है। उस दिन की याद है, जरा 'फाउनटेन पेन' से, तुम्हारी साड़ी पर मजाक करते मैंनें अपना नाम लिख दिया था, तो तुमने कितना हल्ला नहीं मचाया था। यदि उषा बार-बार नहीं कहती—'जीजी क्या बात है। तुम तो मोहन से गुस्सा हो गईं।' तो तुम्हारे दिमाग का पारा उतरता नहीं। अपनी उस अनजान बहन

के कथन पर तुम फिर पिघली थीं। उन दस्तखतों के बोझे वाले अहसान को आज तक दुनियाँ भर में ढोता फिर रहा हूँ। आज अब न जाने कितनी तुनुक-मिजाजी तुम में बाकी होगी ?

अच्छा शादी की बात सुनो। तुमको लड़की ढूँढ़न का भार सौंपा था। वही अधिकार अपना मान, तुम यह पूछना चाहती हो। मैं और विवाह ? सोचकर डर जरूर जाता हूँ। न जाने मन में यह बात क्यों नही आती है। वहाँ टिकती भी तो नहीं ! पत्नी तो भूलभुलैया में डाल देगी। एक सनक में सोचता हूँ, शादी क्यों हो ? भावुकता में अक्सर किसी न किसी सुन्दर लड़की पर आंखें गड़ जाती हैं। जैसे कि यह लड़कियां चाहें, मुझे उबार लेने की क्षमता उनमें है। अपने में जगह देकर, मेरा अपना अस्तित्व तक कुचल सकती हैं। लेकिन कमजोर साबित होना, आसान मौत है। इसीलिए विचार करता हूँ—शादी क्या एक जरूरत है !

पर एक बात बतलाना। तुम सब लड़कियों का साधारण परिचय देकर खुद क्यों हट जाती हो। इतना सुझाकर अपनी साफ राय क्यों नहीं दे देती। कहीं तुमने कुछ थोड़े ही कहा है। लड़कियों का नाम गिना भर देना ही तो तुम्हारा कर्तव्य नही है। यह उचित कब है। तुम अपनी स्पष्ट राय देकर यह क्यों नहीं कहतीं कि उस लड़की से शादी करो। तुम मेरे योग्य लड़की खूब पहचान सकती हो। जब तुम मुझे भली-भाँति जानती हो, तब तुमसे गलती कैसे हो सकती है। और 'नौशा' वाले सारे दस्तूरों से मैं परिचित हूँ। तुम्हारी शादी में मैंने एक-एक सामाजिक और धार्मिक बातें याद कर ली हैं। उन सब को भूलने वाली बुद्धि मेरी नहीं है। लेकिन शायद अब तुम में यह साहस नहीं है कि मेरी शादी में उत्साह लो। जानती हो न कि मैं निपट लापरवाह आदमी हूँ, जिसे कभी अपनी जिम्मेदारी तक का खयाल नहीं रहता है। इसीलिए चुपचाप शादी की बात बन्द किये देता हूँ !

तो पिछले दिनों तुम गाँव गई थीं। पाँच साल बाद ही तो तुम वहाँ गई हो। माता का पद पाकर, एक बार मायके के देवी-देवताओं की पूजा करने का रिवाज चिर प्रचलित ही है। लेकिन वहाँ पहुँच कर सारा बचपन आगे आया

होगा—गंगा के किनारे को छूती चौड़ी-चौड़ी चट्टानों पर हम किस तरह कपड़े धोया करते थे और रेत के मैदान वाले खेल ? हाँ, हमारे आम के बाग में जो तूने तीन पेड़ लगाये थे, वे फल देने लगे हैं—यह तेरी चिट्ठी में पढ़ कर जी करता है कि गाँव में फिर डेरा डाला जावे। लेकिन तू हमारे उस बड़े मकान को उजड़ा देख कर रोई क्यों ? उसे बनाने की सामर्थ्य आज मुझ में नहीं है। यही तूने सोचा होगा। पर बात यह है कि मैं खुद वहाँ नहीं जाना चाहता हूँ। जब तुम वहाँ से चली आई, मां ने भी साथ छोड़ दिया। कोई अपना वहां पर नहीं रह गया था। दो स्मृतियाँ अपने मस्तिष्क में मड़राती हैं। पहली, एक दिन पिताको गाँव के मरघट तक ले जाना और दूसरी, फिर माँ को वहीं पहुँचाया था। गाँव छोड़ने से पहिले गंगा से लगे उस मरघट में, एक बड़े पत्थर पर बैठ कर खूब रोया था। तू तो वहां पास नहीं थी........? तेरी शादी की याद वहीं आई थी। जीवन कितना विचित्र है ! आज तू कितनी दूर है।

दिवाली का चार दीये तुमने मकान पर बाले, यह पढ़ कर बड़ी हँसी आती है। और अपनी चाची की तुलसी की मड़ैया पर जब तुम माथा टेके थीं, तो क्या मुन्ना तुम्हारी झोंटी खींचता नहीं कहता रहा, 'चाची तलो।' अजब सी तसवीर तुमने आगे रख दी ?

तुम डरना नहीं। उस मकान को बेच नहीं रहा हूँ। अपने बाप-दादा की वही यादगार तो मेरे पास है। नहीं तो अपना अस्तित्व गाँव से मिटते क्या देर लगती है ?

मैं जीवन में चल ही रहा हूँ। आज कहीं अपने लिए रुकावट बरतना नहीं चाहता हूँ। वैसे कल अचानक तुम सब की याद आ गई। साइकिल पर आफिस से लौट रहा था कि गली के नुक्कड़ पर बच्चों को खेलते देखा। याद आया हमारा वह खेल :—

मच्छी-मच्छी कितना पानी ?
ये बिल्लैया इत्ता पानी !

और श्यामा आज हमारे बीच नहीं है। तू अब तो श्यामा की याद में

नहीं रोती होगी। श्यामा की जब याद आती है, तो जी भारी हो जाता है। श्यामा की मौत के बाद ही मुझे पाया था! अक्सर श्यामा को लेकर मैं माँ से झगड़ता था। कहता 'माँ, तू श्यामा को मुझसे ज्यादा प्यार करती है; लड़की पर तेरा अधिक मोह है।' माँ सिर्फ धुत्कार दिया करती थी।

तूने श्यामा का पत्र में जिक्र किया है। याद है, श्यामा के मर जाने पर तूने कहा था, "मैं ही श्यामा हूँ।"

कितनी सयानी बात तूने कही थी?

—और आज लिखती है कि अब चिट्ठी नहीं लिखूँगी। न लिख, न सही! मुझे भी अब तेरी चिट्ठी नहीं चाहिए!

तो मैं ही अब और क्यों लिखूँ?

—"मोहन"

काली बाबू

काली को अब दुनिया की परवा नहीं है। वह कहीं टिक और ठहर सकता है। आदमी के दुतकारने पर उसे लाज नहीं लगती है। न उसे अपना ही कोई खास खयाल है। पहले जिन बातों को सुनकर, आत्म-सम्मान की भावना से उसकी आँखों में गुस्सा भर जाता था, अब वह सब कुछ भुला चुका है। उसे कोई गाली दे दे, अपने में ही गुनगुनाता खिसिया कर चला जायगा और दस पन्द्रह कदम आगे बढ़ चुपके से कहेगा, "सुअर कहीं का।" फिर एक बार सोच समझ, अपराधी की तरह, वह अपने चारों ओर देख लेगा कि कोई सुन तो नहीं रहा है। इतना वह अभी नहीं भूला है।

आजकल वह स्कूली लड़कों के एक लाज में बेकार पड़ा है। कुछ काम नहीं। एक बीड़ी का बंडल और माचिस की डिबिया चाहिए। बस, दिन भर बीड़ी फूँका करता है। लाज से बाहर कभी नहीं निकलता। वे सब लड़के एक धाबे में खाना खाते हैं। काली वहीं उधार-खाते पर खाता है। आजकल तो उसे वहाँ जाने की हिम्मत नहीं पड़ती कि कहीं वह धाबेवाला अपने पैसे

का तकाजा न कर बैठे। उससे भी ज्यादा डर है, पास की सिगरेट-पान की दुकान वाले का; उसने काली को एक दिन धाबे से लौटते वक्त पकड़ लिया था। लुच्चों की तरह उसका हाथ पकड़, बोला था, "बाबूजी, पैसे दे दीजिये, नहीं तो... ?"

"कल मिल जायेंगे," काली ने चुपके से समझाया।

"तीसरा महीना चल रहा है। अब कल-वल नहीं होगा बाबू, समझे !"

काली ने बनावटी गुस्से में कहा, "अबे हम शरीफ आदमी हैं। कुछ समझता भी है। ?"

लेकिन दूकानदार मानने वाला थोड़े ही था। कमीज पकड़े रहा, हल्ला मचाया, "बड़े शरीफजादे हैं। पैसा न देना पड़े, सड़क कतरा-कतरा कर चलते हैं। ऐसी अकड़ है तो हिसाब साफ कर दो।"

एक बड़ी भीड़ जमा हो गई थी। मामला बढ़ते देख, काली ने शान्ति-पूर्वक, धीरज दिलाते कहा, "आज कल में मनीआर्डर आनेवाला है। सब हिसाब चुकता कर दूँगा।"

किसी तरह छुटकारा पा, काली जब 'लाज' पहुँचा तो उसे अपनी दुर्दशा पर बहुत अफसोस हुआ। दूकानदार ने तो उसकी कमीज तक फाड़ डाली थी। अपने मन में उसने सोचा, "हरामजादे का एक दिन खून कर दूँगा। क्या होगा, फाँसी ! मुझे अब कोई डर नहीं है। साला, सरे आम पैसे माँगता था, जैसे मैं उसकी रकम मार ही लूँगा। मुझे बेईमान समझता है। अक्ल ठिकाने कर दूँगा—करता फिरेगा चीं-चपड़ !"

ईमानदार बनने की हवस कैसे पूरी हो ! पैसा होता तो वह मुँह पर टपक, हजारों गालियाँ और धमकियाँ जाकर सुनाता। वह रास्ता अब हमेशा के लिये बन्द हो चुका था। साथ ही धाबे में खाना खाने वह नहीं जा सकता है। उसे भूखा पड़ा रहना मंजूर है। अपनी तौहीनी अधिक नहीं देखी जाती। बस, वह लौट कर पड़ रहा। जब स्कूल से लड़के चले आये तो वह एक से बोला, "मिस्टर, एक बीड़ी होगी !"

बीड़ी मिल गई, उसने सुलगा ली। मन ही मन तमाम आदमियों को मारने

की बात सोचता रहा। सब एक से हैं, कोई किसी का एतबार नहीं करता। नहीं जानते, काली को आज न सही, कल तो नौकरी मिल ही जायगी। तब अपनी तनख्वाह से वह सब का हिसाब चुका देगा। काली कोई साधारण दर्जे का मजदूर थोड़े ही है। वह मैट्रिक पास है। उसने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास किया था। उससे नालायक लड़के आज अच्छे-अच्छे ओहदों पर हैं। उसे किसी ने नहीं पूछा। उसके आगे ढोल बजा-बजाकर रास्ता बताना वाला कोई नहीं था। उसे ठीक मौका और अवसर नहीं मिला। उसने ठोकरें खा-खाकर दुनिया का रास्ता टटोला था। छोटी उम्र से ही वह ट्यूशनों पर गुजारा करने को मजबूर हो गया था।

लड़कों के इम्तहान हो गये। सब एक-एक कर जा रहे हैं। वे थोड़ा पैसा—जेब खर्च के लिये उसे देते थे। अब दो महीने वह भी नहीं मिलेगा। लेकिन वह कहीं नहीं जायगा! यहीं पड़ा रहेगा। एक खुला गुसलखाना है और एक कोठरी। बहुत जगह है। दिन को गुसलखाना ठंडा रहता है। रात को वह कोठरी में ही पड़ा रहा करेगा। किसी तरह दिन तो काटने ही हैं। कहीं नहीं जायगा। नहीं, नहीं जायगा! दुनिया भर के आदमियों से उसे नफरत हो गई है। वह किसी का मुँह नहीं देखना चाहता है। सब एक ही से हैं। किसी को उसकी फिक्र नहीं है। वह किसी का मुंह देखना पसन्द नहीं करता है। न अब वह किसी के आगे हाथ पसारेगा। वह उन बदमाशों को खूब फटकारना चाहता है। वे दुनिया को लूट रहे हैं। सब ससुरे सभ्य हैं, और असभ्य है केवल काली—वह बेकार जो है! उसके पास पैसा नही, रहने को घर नहीं और खाना भी नसीब नहीं होता। वह पानी पी-पीकर अपना गुजारा करेगा और वहाँ से बाहर जाने का कभी नाम न लेगा।

लड़कों ने जाने से पहले काली को कुछ पैसे दिये थे। तीन दिन तक काली उन पैसों को गिनता रहा। भारी आलस्य और अपमान की वजह से उसे लाज से बाहर जाने का उत्साह नही रहा। भूखा वहीं का वहीं पड़ा रहा। वह उन पैसों से ऐसी तदबीर निकालना चाहता था कि एक बड़ा आदमी बन सके। काली को याद आया कि बचपन में एक सेठ जी ने उसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें

बँधाई थीं। फिर वहाँ ही क्यों नहीं चला जाय। शायद वे कहीं काली को ठिकाने से लगा दें। सेठ जी बड़े दयालु थे। उनके कई प्याऊ थे, धर्मशालायें थीं। रोज उनके दरवाजे पर हजारों फकीर जीमते थे। स्कूल के जल्पे में वे आये थे। हेडमास्टर साहब ने काली की तारीफ की थी। सेठ जी ने उससे हाथ मिलाकर, समय पर सहायता देने का वचन दिया था। सेठ जी की कई मिलें हैं; कारखाने हैं? उसे भारी धीरज हुआ। उसने पैसे गिने, लारी के किराये के लिये पूरे थे। फिर गिने, बीड़ी और माचिस के लिये तीन पैसे बच जाते थे। चौथे दिन वह ग्यारह बजे 'लारी स्टैण्ड' पर पहुँचा। मई की दुपहरिया, काली ने तीन दिन से खाया नहीं खाया था। लू, गरम हवाके झोंके बीच-बीच में धूल उड़ा कर लारी को ढक लेते थे। वह बार-बार गरदन से पीछे वाली हड्डी को हाथ से टटोलता जाता था कि कहीं वह पिघल तो नहीं गई है। नाक मुँह, आँख, सब गरम हवासे झुलस चुके थे। अब काली ने समझा कि हिन्दुस्तान बहुत गरम देश है। फिर भी वहाँ किसान काम करते हैं। अपनी किसी हिफाजत की चाह उसे नहीं थी। समझ लिया कि लू लग जायगी—वह मरेगा।

लारी से चालीस मील का सफर तय कर वह सेठ जी के बंगले पर पहुँचा। एक नैपाली सिपाही बन्दूक लिये पहरा दे रहा था। चारों ओर खस की टट्टियाँ लगी थीं। नौकर उन पर पानी छिड़क रहे थे। वह बाहर बैठा रहा। भूख लगी थी, प्यास भी! उसने नल से खूब पानी पिया और बाहर चबूतरे पर नीम के पेड़ के नीचे बैठ गया।

लेकिन काली को नौकरी नहीं मिली। सेठ जी को वह पुरानी बात याद नहीं रह गई थी। वह उसे नहीं पहचान सके। उसने बेकार बहुत याद दिलाने की कोकिश की। उनके पास रोज हजारों आदमी आते हैं। उसने फिर कहा कि वह अपने सब पैसे खतम कर, एक आखिरी आशा से आया है। सेठ जी नहीं पिघले। मुनीम जी ने चार आने पैसे फेंकते हुए कहा। "भाग जाओ बाबू।"

काली कैसे समझ लेता कि नौकरी नहीं है। नहीं है, तो क्या वह जिन्दगी

भर, इसी तरह मारा-मारा फिरेगा ? नहीं ! नहीं !! सेठ जी नौकरी दे सकते हैं। उनको देनी चाहिये। वे चार आने पैसे वहीं फर्श पर पड़े रहे। उसने एक बार उनको देखकर भारी शब्दों में कहा, "सेठ जी !"

तब सेठ जी अपने नये 'मिलिटरी" के ठेके की बातें कर रहे थे ! वह चुपचाप सुनता रहा। फिर सेठ जी ने अपने नये ठेके की भीतरी छिपी करतूतों का बखान किया। उनके कहने के ढंग के भीतर एक भारी व्यंग था। हजारों रुपयों का वह ठेका सेठ जी ने लिया है। शायद उसी के लिये चार आने पैसे दान करते उनको कुछ हिचक नहीं हुई। सेठ जी सुना रहे थे, चर्चा चालू थी--कितना रुपया साहब को भेंट करना पड़ा। कितना बाबू लोगों को, काम निकालने लिये कितना झूठ बोलना पड़ता है और कितना धोखा देना जरूरी है। सब कुछ सुनाते-सुनाते बीच-बीच में वे हँसते थे।

सुन्दर रेशमी अंगोछा पहने एक साधु ताँगे से उतरे। हाथ में भीख माँगने का काला कमण्डलु था। उसकी मूंठ सफेद हाथी दाँत की बनी हुई थी। खूब मोटे, ताजे और तगड़े थे। सेठ जी उनको देखकर उठे, चरणों की धूल लेते हुये बोले,—"आइये महाराज। बहुत दिन में दर्शन दिये।"

स्वामी बैठ गये। काली ने महात्माजी पर एक निगाह डाली। एक बड़ा हवन होने वाला था। सेठ जी ने मुनीम से पचास रुपये देने को कहा। मुनीम जी ने दस-दस रुपये के पाँच नोट दे दिये।

काली ने सोचा, एक आदमी भूखों मर रहा है। उसका कोई सहारा नहीं। और दूसरा......। सारा धर्म-कर्म व्यर्थ लगा। फिर उसने निश्चय किया कि वह फकीर बनेगा। यह तरकीब ठीक है। फिर स्वामी और महात्मा बनते देर नहीं लगेगी। दुनिया उसकी पूजा करेगी। वह भण्डार खोलेगा और दुनिया भर के रईसों को इसी तरह लूटेगा। उसने सेठ जी की ओर एक क्रूर दृष्टि डाली, चला आया। रास्ते में कहा--धोखेबाज पाजी !!

अब काली क्या करेगा, पढ़-लिख कर उसने क्या पाया ? वह एक दल स्थापित कर लूट-मार मचा, सब रुपया इन अर्थ-पिशाचों से छीन लेगा

अपने-जैसे बेकारों को जमा करेगा। यह आखिरी जरिया है। जेल होगी, जेल जायगा। वहाँ भोजन-वस्त्र तो कम-से-कम बँधा हुआ मिलता है। उस का वह दल देश भर में फैल कर काम करेगा। सब को रोटी मिलेगी और उनके रोजगार का इन्तजाम किया जायगा। यह मौजूदा सरकार तो कुछ नहीं कर पा रही है। वह स्वस्थ वातावरण फैला कर, इस सारे विद्रोह को अलग हटाने की कोशिश करेगा। तब किसी को इतनी कठिनाइयाँ नहीं रह जायँगी। फिर सोचा पागल कहीं का! एक पैसा पास नहीं, सोने का ठिकाना नहीं, खाना तीन रोज से नसीब नहीं और मैं बनूँगा दल का नेता! बिना खाने-पीये उस दल का संचालन होगा! हा-हा-हा! वह ठहाका मार कर हँस पड़ा। अपनी इस बेवकूफी पर उसे खूब हँसी आई।

इतने में पीछे से किसी ने कहा, "बाबू, अन्धे हो क्या?"

एक इक्का पास से गुजर कर आगे बढ़ गया। काली ने आँखें-फाड़ चारों ओर देखा! वह सब कुछ साफ-साफ देख रहा था। वह अन्धा तो नहीं है। यह एक झूठा सन्देह इक्केवाले ने उसके मन में पैदा कर दिया था। नहीं, वह अन्धा है, अपाहिज और पंगु है। कारण, उसके पास पैसा नहीं वह जरूर अन्धा है। आँखवालों के पास बड़ा मकान, बैंक में हिसाब और मोटर होती है। उस के पास तो कानी कौड़ी नहीं है। अच्छा, तो फिर भूख क्यों लगती है? कितना ही पेट को वह समझता है कि फिल-हाल कोई ठीक-सा इन्तजाम नहीं होने का; पर वह लाइलाज मर्ज है। कितना ही समाधान क्यों न कर ले, भूख बढ़ती ही जाती है। पास पानी का नल था। सोचा, पेट इसी से भरा जाय। नल के पास कुछ खाना भी तो पड़ा है। पर जूठन वह नहीं खायगा। पानी पी सकता है। पानी उसने खूब पी लिया। पेट को हिला-हिला कर अन्दाज लगाया कि मसक की तरह वह कितना भर गया है।

चारों ओर कोठियाँ ही कोठियाँ थीं। वह चला जा रहा था। कोठियों में किसी के बाहर लिखा था 'वाटिका', किसी के बाहर 'कुञ्ज' और किसी-किसी के बाहर अफसरान के नामों की तख्तियाँ लटकी हुई थीं। एक पर उसकी आँखें

अटकीं। पढ़ा—काशीनाथ अग्रवाल।

तो यह वही मैट्रिक में उस के साथ पढ़ने वाला काशीनाथ तो नहीं है। बहुत बड़ी उम्मेद हो आई। वह दौड़ा-दौड़ा भीतर पहुँचा। तपाक से एक लड़के से पूछा, "खुर्जावाला काशीनाथ यहीं रहता है?"

उस की बड़ी दाढ़ी, अजीब सूरत और पहनावा देख कर, लड़का भागा-भागा बैडमिटन-कोर्ट में पहुँचा। हाँफता हुआ बोला, "ममी फाटक के भीतर एक पागल घुस आया है।"

काली ने देखा, दो युवतियाँ और एक मर्द खेल रहे थे। वह आदमी वही स्कूलवाला काशीनाथ था। ठीक उसने पहचान लिया था। तपाक से आगे बढ़ कर वह बोला, "अबे काशी, क्या ठाठ हो रहे हैं?"

इतने में माली ने उसकी गरदन पकड़ ली और फाटक के बाहर निकाल दिया। दूर ढकेलता हुआ बोला, "बदमाश, चोरी करने आया था।"

काली ने सोचा, वह इसका भी एक दिन खून करेगा। क्या होगा, फाँसी! वह मरने को तैयार है। सब का एक साथ खून करेगा। वह बदमाश है और सारी दुनियाँ शरीफ। वह सब शरीफों को नेस्तनाबूद कर देगा। उसकी आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा। एक नीम के पेड़ के सहारे वह खड़ा हुआ आप ही आप बड़बड़ाता रहा—सब साले 'ईडियट' है। मुझे नहीं पहचानते।

खयाल आया कि उसे अपने शहर पहुँचना है। बीड़ी की तलब उठी। उसने एक ओर 'फुटपाथ' पर पड़ी बीड़ी उठा ली। सुलगावे कैसे? सामने एक साहब साइकिल पर जा रहे थे। वह जोर से बोला, "ओ मिस्टर, माचिस होगी?

वे भले आदमी काली बाबू के लिये दियासलाई की डिबिया फेंक, अपना पीछा छुड़ा कर भागे। अब उसने इतमीनान से बीड़ी सुलगा ली। फूँकता हुआ बोला, "हम क्या लाट साहब से कम हैं।" सीना खोल कर, अकड़-अकड़ कर चलने लगा।

आगे उसने देखा—बहुत से भिखारी भीख माँग रहे थे। कोई एक टाँग उठाये और किसी ने आँखें मूँद ली थीं। कोई भगवान के नाम पर आशीर्वाद

देता हुआ पैसे के लिये हाथ पसारे था। अजीब-अजीब स्वाँग देख कर काली बाबू को बड़ी हँसी आई। उस ने सोचा—ये सब साले अभागे हैं, गरीब हैं और इसी तरह गुजारा करते हैं। भले आदमी भीख नहीं माँगते। ये सब हैं—लुच्चे! डाकू!! दुनिया को ठग रहे हैं। इन से क्या मजदूरी नहीं हो सकती?

आगे बढ़ कर वह लारी में चढ़ा। अपने शहर पहुँचना जरूरी है। दूसरों अनजानों का वह शहर उसे अच्छा नहीं लगा। यहाँ काली बाबू को कोई नहीं जनता! उस के शहर के बच्चे-बच्चे उसे पहचानते हैं। लारी चल रही थी। शाम हो गई। वह सो रहा था।

"मिस्टर।"

काली ने आँखें खोलीं।

"किराया।"

"हमारे पास एक पैसा नहीं है।" वह झुँझला कर बोला।

"तब चढ़े क्यों थे?"

"हमारे मन की बात थी। ले अब उतरे जाते हैं, तू भले आदमियों की इज्जत तक नहीं करना जानता है।" काली बाबू उतर पड़े।

लारीवाले ने हाथ पकड़ कर कहा, "पुलीस देखी है?"

काली को चढ़ा गुस्सा। कहा, "साले तेरे बाप की लारी है, जो इतना इतराता रहा है।"

कुछ वसूल होने की उम्मेद न होने पर, चार धौल काली बाबू के रसीद कर वह चला गया। काली आगे बढ़ा। चुंगी के पास वह उतारा गया था। शहर एक मील दूर था। वह तेज चाल से आगे बढ़ने लगा। फिर दौड़ता-दौड़ता शहर पहुँचा। अपने पानवाले की दूकान पर आकर बोला, "एक 'पासिंग शो' सिगरेट देना।"

दूकान पर नौकर बैठा हुआ था। उस ने सिगरेट दी। इतमीनान से उसे सुलगा कर वह बोला, "काली बाबू के हिसाब में लिखा देना।"

धीरे-धीरे सिगरेट फूँकता-फूकता वह धाबे में पहुँचा। नौकर ने पूछा, "आज बहुत दिनों में आये?"

"बाहर नौकरी की तलाश में गया था।"

"मिल गई?"

"खाना लाओ। बातें फिर करना।"

सिलसिलेवार घटनाएँ

"ला पतबीड़ी", कह, रामू ने चकमक पत्थर झाड़ा और कपास जला कर उस पर रख दी, अब तम्बाकू पीने लगा।

इतने में बाहर एक किलकारी सुनाई पड़ी।

"रामू! रामू!!" किशोर बोला।

"क्यों, क्या बात है?"

"तू ने नहीं सुना!"

"होगा भी। बाहर कितनी तेज हवा चल रही है। कोई अजनबी स्वर सुनाई दे तो आश्चर्य क्यों हो रहा है?"

"नहीं रामू! हमारे पहाड़ का जो विश्वास है, वह सही ही है। अन्यथा आदमी की सामर्थ्य के बाहर ऐसा स्वर! जरूर कोई देवी होगी।"

"तब पूजा करने बाहर क्यों नहीं चला जाता है!"

बाहर बैलों के गलों की घंटियाँ बज उठीं। गाय रांभ रही थी।

"कोई जंगली जानवर आया है, वर्ना पशु चौकन्ने नहीं होते। चल बाहर देख आवें।" कह रामू ने सिरहाने से टार्च निकाली, पत्तों का बना खूब चौड़ा छाता उठाया और दोनों ओढ़कर बाहर निकले।

बाहर खूब पानी बरस रहा था। बरसात और फिर पहाड़ की! मूसलाधार वर्षा थी। बिजली बीच में जरा चमकती और भारी शब्द होता, जो गूँज-गूँज उठता था। बिजली की रेखा की रोशनी में एक बार सामने पहाड़ पर चिट्टी रोशनी पड़ती दिखाई दी। आस-पास जंगल के पेड़ भी दीख पड़े।

"देख मैंने कहा था, दस बकरी एक साथ मार गया। इस बघेरे के मारे

आइन है फनका अन्दर उठा कर ले चल" रामू बोला। फिर दोनों ने मरी बकरियाँ अन्दर सँभाली।

"लेकिन दादा !"

"क्या है ?"

"एक बकरी कम मालूम होती है, शायद साथ ले गया होगा।"

"तो जाने दे। खा लेगा, कहाँ अब ढूँढ़ें।"

वे अपनी झोपड़ी के भीतर पहुँच गये। बड़े-बड़े पत्तों के छप्परों का बना यह तम्बूनुमा डेरा है। इसे इधर-उधर खेतों में ले जाने में कोई दिक्कत नहीं होती है। ऊँचे-नीचे खेतों की वजह से, खेतों में ही गाय बाँधने का रिवाज पहाड़ों में है। इससे गोबर फैलाने में सहूलियत हो जाती है। अलग-अलग खेतों में बारी-बारी से गायें बाँधी जाती हैं।

"परसों ही पन्द्रह बकरी मार गया।" किशोर कहने लगा।

"अपना अपना शिकार है।"

"आज यह पानी ! मालूम होता है कि प्रलय होगा।

कड़—कड़—कड़ ·····फिर एक भारी आवाज और सन्नाटा।

"कहीं वज्र गिरा है।" रामू बोला !

"मेरा दिल तो डूब रहा है।"

"क्या ?"

"डर न जाने क्यों लगने लगा।"

"तेरी शादी का इन्तजाम अब के जाड़ों में करना है। यह दिल डूबने वाला रोग अपने ही आप भाग जायेगा।"

"और तुम दादा ?"

"सोच रहा होगा कि पाहुना बनकर चलेगा।"

"ठीक बात तो है।"

"तब शादी जरूर करूँगा। अरे तू तो काँप रहा है। बड़ा डरपोक है। क्यों आया था। मैं तो वहीं मना कर रहा था। घर में पड़ा रहता।"

"मैं डरपोक·····।"

"हाँ हाँ।"

"मैं डरपोक रामू!"

"हाँ हाँ; झूठ बात क्या है।"

"तब तू ही सच्चा है। इस टीले के उस पार तो....."

"तुझे क्या हो गया है!"

"तुमको सुबोध की माँ की याद है?"

"शायद वह हैजा से मरी थी।"

फिर बाहर एक भारी किलकारी हुई। किशोर थर-थर काँपने लगा।

"किशोर!"

"ओ रामू! ओ रामू!! कोई अनर्थ होगा।"

"यही तुझे बकना है।"

"उस साल भी ऐसी ही किलकारियाँ सुनाई पड़ीं थीं। सुबोध की माँ संध्या के झुटपुटे में घास लेकर लौट रही थी। उसने देखा था कि सुन्दर लाल साड़ी और रंगीन चूड़ियाँ पहने एक लड़की आगे बटिया पर बैठी थी। उस खूबसूरत अकेली लड़की से वह बोली थी, कौन है तू, किसकी लड़की! और वह लड़की ओझल हो गई।"

"ओझल हो गई!"

"हाँ, हाँ, फिर रास्ते से ही सुबोधकी माँके पेटमें बड़ी पीड़ा शुरू हुई। घर पहुँचते-पहुँचते वह काहिल होगई। तीन दस्त हुए और कई कै। घर के अलावा किसी को उसकी यह हालत नहीं मालूम हो पाई। लोग ऐसी बातें बाहर करते डरते हैं! आधी रात को सुबोध मेरे पास आया। सब सुन कर मैंने कुछ गोलियाँ और क्लोरोडीनकी शीशी ले ली। वहाँ पहुँचकर देखा कि वह पीली पड़ गई थी। नाड़ी देखी—लापता, बड़ी हिम्मत करके हमने चम्मच डाल कर उसके जकड़े दाँत खोले और चन्द बूँदें दवा की डालीं। लेकिन दाँत खुले के खुले ही रह गये। वह बड़ा ही भयानक नजारा था। तभी बाहर दालानमें एक किलकारी सुनाई दी और उसने आखरी हिचकी के साथ प्राण छोड़ दिये थे।"

"किशोर!"

"सच-सच, सब बात है। वह मर गई थी! बड़े सुबह अँधियारे ही लोग उसे गाड़ने ले गये थे। बीरू भी साथ-साथ उन लोगोंके पीछे था। बीरू ने एक ओर देखा—वही लड़की बकरी का पेट चीर कर उसकी आँतों से खेल रही थी। उसकी किसी से कहने की हिम्मत नहीं पड़ी।"

"क्या किशोर?"

"दादा, वह हैजाकी देवी थी।"

"किशोर, यदि दुनिया के आगे यह बातें कह दे, तो किसी पागलखानेकी हवा......।"

"ठीक बात है रामू, सभ्यता का इन बातों से वास्ता नहीं है, इसीलिये तो, लेकिन......।"

"कुछ और बात है।"

"हाँ, उसी रात को बीरू अपने मकान के निचली मंजिल के एक कमरे में अकेला सोया हुआ था! इतने में किसी ने बाहर से दरवाजा खटखटाया। उसकी आँखें खुलीं, पुकारा, 'कौन!' कोई जवाब नहीं मिला। फिर कुछ देरके बाद दरवाजे पर खटखटाहट हुई और एक वीभत्स हँसी कोई हँसा। खिड़की खोलकर बाहर देखा—सुबोधकी माँ, खड़ी उसे बुला रही थी।"

"सुबोध की माँ!" आश्चर्यमें रामू बोला।

"वह उसे बुलाने आई थी।"

"बुलाने?"

"दिन को बीरू भी हैजे से मर गया। यह सब बात उसने मुझ से कही थी।"

"तुमसे कही!"

"उस साल गाँवमें तुम होते तो मालूम पड़ जाता, इन दो घटनाओं के बाद पाँच और मौतें हुई थीं। बस सब लोग गाँव छोड़ कर भाग गये थे। जानते हो सब के मुर्दे कहाँ गाड़े गये हैं?"

रामू ने किशोर की ओर देखा।

"वहीं, टीलेके उस पार मैदान में।"

कुछ देर तक दोनों के दोनों चुप रहे। वही बरसात। पानी-पानी-पानी! बीच-बीच में हवा की भारी आवाज सुनाई पड़ती थी। कभी-कभी लगता कि कुछ आहट-सी बाहर होती है।

"सो गया रामू?"

"नहीं किशोर।"

"तुझे डर लग रहा है क्या?"

"नहीं तो, और कुछ सुनावेगा, क्यों? तेरे किस्से दिलचस्प होते हैं। कहने का ठीक-सा ढंग तू सीख गया है।"

"वह मैदान ....।" कहकर किशोर चुप हो गया। लालटेन की बत्ती उसने बढ़ा ली। कहना शुरू किया, "यदि किस्से होते तो रामू ठीक था। जानता है, अकाल मृत्यु के बाद आदमी को मुक्ति नहीं मिलती है!"

"अब तो लगा तू दर्शन-शास्त्र छाँटने।"

"अरे नहीं-नहीं, बात ही कुछ ऐसी है, मन-बुझाव नहीं होता। भूत पर तू विश्वास करता है?"

"मैं!"

"हाँ, तू, तू! बड़ा जिन्दादिल है।"

"आखिर बात क्या है। जो इतना डाट रहा है?"

"कोई बड़ी बात नहीं। उन घटनाओं के बाद धीरे-धीरे गाँव बसने लग गया था। कोई डर लोगों को नहीं रहा, लेकिन एक दिन—"

"क्या हुआ क्या, कहो।"

"एक दिन शानू की बहू अपनी सास से झगड़कर, रात को ही मायके के लिए चुपके रवाना हो गई, जाड़े के दिन थे। चाँदनी रात थी। इस सामने वाली चोटी के उस पार ही तो उसके पिता का गाँव है। इस रास्ते से वह आ रही थी कि उसने देखा, सामने उस चौड़े मैदान पर दो आदमी सफेद कपड़े पहने, घोड़ों पर सवार थे। वे पहाड़ की चोटी की ओर इशारा कर रहे थे। वह भाग कर लौट आई, और बेहोश पड़ी रही।"

"ठीक ही हुआ। दिल में डर समा गया होगा?"

"नहीं रामू, बात कुछ और ही हुई। उसे झपेटा लग गया था। यह ज्ञानू की दूसरी शादी है न! उसकी पहली बहू हैजे में मर गई थी। अब भूत बनी टीले के पास रहती है। टीले से लगा ज्ञानू का जो खेत है, उसकी दीवाल यदि दिन को ज्ञानू की बहू ठीक करती है तो वह रात को उजाड़ देती है। घर का कोई दूसरा आदमी बनाता है तो कुछ नहीं होता।"

"वह ठीक नहीं बनाती होगी।"

"फिर अपनी ही बात कहोगे न! वह तो बेहोश ज्ञानू की बहू पर भूत बनकर उस दिन चिपट गई थी। बेहोश ज्ञानू की बहू के भीतर से बोली थी—'इसे उस खेत में भेजोगे, तो मैं खा डालूँगी। मेरे गहने-कपड़े इसे क्यों दिये गये? माँग लो।' लोगों ने यही किया, फिर वह कभी नहीं आई।"

"हँसी की बात यह है।"

"और दादा, एक रात वैद्य जी का दरवाजा किसी ने खटखटाया। कोई आदमी उनको बुलाने को आया था। वैद्यजी बहुत निडर आदमी हैं। पास ही गाँव में मरीज देखने जाना था। साथ हो लिये, अँधियारी रात थी। और इस सामने वाले मैदान में पहुंचे तो देखा कि आदमियों की एक कचहरी लगी थी। सब सफेद कपड़ों में थे। एक ऊँचे पत्थर पर बैठा था और सब लोग नीचे। सरदार बोला—'यह आदमी नहीं चाहिए।' वैद्यजी लौट गये; किन्तु दूसरे दिन सुना कि दूसरे गाँव के वैद्य जी मर गये हैं।"

"तेरी बातें तो समझ में नहीं आतीं किशोर!"

"विश्वास, मैं तो इसे मानता हूँ। मुझे वह दिन खूब याद है। मैं और सुशीला छोटे थे। मैं सात साल का और वह पाँच की। माँ रसोई में ही थी। खा-पीकर हम दोनों सो रहे थे। अँधियारा था तभी किसी ने मेरी छाती पर अपना हाथ रख दिया। मैं कुछ नहीं समझा। कोई कह रहा था—इसे ले जाऊँ या उसे। आखिर वह बोला—'उसे ही ले जाता हूँ।' कुछ देर बाद माँ दूध पिलाने आई थी, सुशीला मरी मिली।"

"सुशीला मर गई थी!" आश्चर्य से रामू बोला।

"यह तो मेरी अपनी जिन्दगी की बातें हैं। जब किसन को चेचक निकली,

मैं उस रात अपने छज्जे में पेशाब कर रहा था। मैंने देखा कि किसन के दालान में कोई औरत सुन्दर कपड़े पहने खड़ी थी, अगली सुबह सुना कि किसन मर गया।"

"क्या?"

"तुम सच मानों या झूठ। वह माता थी।"

फिर बाहर किलकारी सुनाई पड़ी।

"रामू रामू!" किशोर चिल्लाया।

"फिर...?"

किशोर बहुत डर गया था। चुप रहा।

"किशोर!"

"क्या बज गया होगा रामू?"

"अँधियारा है। कुछ अन्दाज भी तो नहीं लग सकता।"

"जान पड़ता है पानी थम गया"

"शायद...।"

घु—घू—घू—घु—घू—घू!!

"वह उल्लू बोल रहा है।"

"बोलने भी दो, हमें क्या मतलब।"

"प्यूँ—! प्यूँ!! प्यूँ!!!

"रामू!"

"क्या है?"

"तुमने सुना।"

"कोई पक्षी बोल रहा है। बोलने दो मेरे मना करने पर तो वह मान नहीं जायेगा।"

"बड़ा बहादुर है तू।"

"सुन फिर एक बात।"

"क्या रामू?"

"चल भूत देखने चलें।"

"कहाँ ?"

"वही सामने मैदान में !"

"चुप !"

"मैं तो जाऊँगा ।"

"नहीं गलत बात होगी ।"

"भूत आदमी की तरह होता है न !"

"रामू, वह तो किस्म-किस्म के जानवर बन जाता है ।"

"तुझे कैसे मालूम ?"

"माँ कहती थी ।"

"क्या ?"

"यही कि एक दिन साँझ को वह खेत से लौट रही थी । रास्ते में उसे आगे एक कुतिया बगल-बगल चलती दीखी । कुछ दूर आगे जाकर वह नीचे की ओर मुड़ गई । माँ की समझ में बात नहीं आई कि यह कुतिया कहाँ गाँव का रास्ता छोड़कर जा रही है । नीचे की ओर देखा—तो एक मेड़ नीचे की की ओर भाग रही मैं । माँ आश्चर्य में पड़ गई । फिर उसने भैंसे की आवाज सुनी । देखा कि एक भैंसा खेतों में कूद रहा है । चुपचाप माँ घर लौट आई ।"

"तब किशोर जरूर भूत देखने चलेंगे !"

"नहीं दादा ।"

"तब अकेला मैं ही जाऊँगा ।"

"आज कौन-सा दिन है ?"

"अमावस ।"

"बिलकुल मत जाओ !"

फिर एक किलकारी सुनाई पड़ी । दूर बादल गरज रहे थे । उल्लू अभी बोल ही रहा था ।

लेकिन रामू माना नहीं । छप-छप-छप करता, बाहर कीचड़ में बढ़ गया ।

कुछ भी किशोर की समझ में नहीं आया। अवाक् खड़ा का खड़ा ही रह गया।

अगली सुबह रामू मैदान में बेहोश पड़ा हुआ मिला। उसके आस-पास मुरदों की हड्डियाँ पड़ी हुई थीं।

होश में आने पर रामू ने कहा कि उसने भूत देखे हैं। लेकिन कहने की मना ही है। नहीं तो वे उसे मार डालेंगे।

कामिनी

रेल की सीटी के साथ ही महीम चौंका; सच ही कामिनी पहाड़ जा रही थी। दूर—बड़ी दूर!

"अच्छी तरह रहना हाँ...!" कामिनी दबे स्वर में बोली।

वह अवाक्-सा खड़ा का खड़ा ही रह गया।

"जाते ही चिट्ठी भेजूँगी।"

महीम सब सुन रहा था। अपने उठते आँसुओं को पीकर उसने एकबार कामिनी को देखा। वह गंभीर थी उसे समझाने को ही बोल रही थी; सेकंड-क्लास में बैठी वह महीम को देख रही थी, समझा-बुझा रही थी और महीम चुप था...

वह बोली, "अब सँभल कर रहना। ऐसी लापरवाही—बुखार में शराब! खाने तक की फिक्र नहीं! फिर बिमार पड़ जाओगे तो—?" उसकी आँखों में आँसू छलके।

गाड़ी ने दूसरी सीटी दे दी। कामिनी ने नमस्ते किया। उसने देखा कि गाड़ी के एक-एक डिब्बे आगे बढ़ रहे हैं। कामिनी खिड़की से बाहर सिर निकाले अपना रेशमी रूमाल, हिला रही थी। दूर तक छोटे-छोटे डिब्बे दीख पड़े। आखिर गार्ड का डिब्बा छिप गया और वह नारी परोक्ष में विलीन हो गई! महीम की सारी सामर्थ चूक रही थी। वह खड़ा-का-खड़ा ही रह गया। उसने सोचा कामिनी सच ही चली गई। अब वह अकेली ही अपनी

सारी व्यवस्था ठीक करेगा। प्लेटफार्म पर इंजनों की 'भक-भक' सुनाई पड़ रही थी। और दूर सामने सिगनल का हाथ उठता मुझा रहा था कि, मैंने ही सारी समस्या गुंथीली बना, कामिनी को इधर से जाने दिया। देखो न मेरी शक्ति तुम निर्बल रहे, अशक्त ही।

—चार महीने इसी नारी के जीवन से वह खेला था। एक नारी पाने की दबी भूख को, उसने इसी नारी को सौंपा था। वह इस नारी से प्रेम और सत्य की पहेली बूझ लेने को तुला था। यही नारी अब तक उसकी आत्मा को शान्ति देती थी, उसके हृदय की सुकुमार मनोवृत्तियों को संभाले थी…

वह शून्य प्लेटफार्म पर खड़ा था। सामने माल-गाड़ी के डिब्बों को इंजन, इधर-उधर ले जा रहा था। मई़म अपनी आत्मा को गवाही दे रहा था कि, वह इस नारी से प्रेम करता है।…इस नारी को उसने एकाएक पाया था—किसी सामाजिक या धार्मिक बन्धन के साथ यह उसके समीप नहीं आई थी। वह सिर्फ एक व्यापारिक और व्यवहारिक रिश्ता था, जो कि 'सत्य' बन गया। आज उस नारी के बिछोह ने एक भूली नारी की याद दिला दी। आज अन्तरिक्ष में ओझल हो जाने पर जिसे वह खूब समझा था। आज की नारी के विछोह ने सुझा दिया कि, नारी क्या है। नारी भूल नहीं। वह भूली नारी दूर छिप कर इसे न उकसाती तो, वह इस नारी को समीप न पाता; और यह जीवन में कितने समीप आई थी! बिलकुल सटी, जीवन से खेलती पूछती थी 'तुम जीजी को कितना प्यार करते थे? सच-सच बतलाना!'

यह कोई उत्तर देने का प्रश्न था? वह फिर पूछती थी, 'अच्छा क्या जीजी मुझ से भी, सुन्दर थी?'

कामिनी का यह कैसा प्रश्न था? कामिनी का ही! जो प्रेम की खिलौना मात्र थी। जो पुरुष समुदाय में कविता बनी, कई पाठकों से हँस-खेल कर अपनी दूकानदारी उठाती थी। जो प्रेम का सौदा, एक दिनचर्या में गिन ग्राहक की प्रसन्नता में अपने को सौंप उसे, एक व्यवहारिक स्वामी की गिनती में उसे गिन लेती थी। जो अपनी माता की कही बातें रट-रट कर तोते के समान रटा

पाठ अपने ग्राहक के आगे दुहराती थी—'कल क्यों नहीं आए! अच्छा यह बात!'

कभी अपने इयरिंग को हल्का-सा झोंका दे, किसी ग्राहक के गाल पर हल्की सी चपत मार मुसकराती कहती, 'तुम बड़े सीधे हो जी। क्या मेरी जूठी सिगरेट नहीं पीओगे?' और पान का बीड़ा उसके मुँह में डाल देती। नारी की एक दूकानदारी के लिए शृंगार कर, 'नथ' की आड़ में अपना कुमारी पन छिपाये, ग्राहक को जब वह अपनी झलक दिखलाती थी, तो मानों सुझाती—मेरा मोल आँक लो। अम्मा ठीक तो माँगती है उतना रुपया। मैं ऐसी वैसी थोड़े ही हूँ। और कभी हँसती-हँसती, धीमे स्वर में एक गीत सुनाती हुई सच ही झूम उठती थी।

इसी नारी ने महीम को अपने में रला लिया था। कामिनी सजीवता और सुन्दरता की राशि थी। महीम उसका था और महीम की—?

महीम गेट से आगे बढ़ा। ताँगे पर घर की ओर रवाना हुआ। वह सोच रहा था कि कामिनी कितनी सुन्दर थी? एक वेश्या ही थी न? वह जब हँसती थी तब? और वह उसे मिली भी तो एक 'रोमांस' के साथ···

जीवन में गृहस्थी का एक युग आता है, जब कि दुःख और परिस्थितियों से भिड़ता, भटकता युवक चाहता है एक नारी को। नारी छाँह और आँचल पर टिक जाना। वह एक नारी को अपनी स्त्री के रूप में समीप चाहता है। प्रेम में वहाँ वासना नहीं, एक सहानुभूति की चाह और अपनत्व की आकांक्षा रहती है। वह नारी-अनुभूति में सिकुड़ा रहना चाहता है। यही महीम के आगे की पहेली थी। कालेज का लम्बा अरसा गुजर जाने पर, जब उसे बेकारी के उलझते-गुँथीले प्रश्न को हल करना पड़ा, तो जीवन में नीरसता आ गई। बहुत दिनों के दूध में जैसा खट्टापन आ गया। उसके उत्साह और जिन्दादिली में एक गहरी दुःख की लीक पड़ गई। अन्त में एक आफिस में नौकरी मिली। पर सारी प्रसन्नता चूक गई थी। एक मशीन के समान ही जीवन बन गया। उसी मशीन युग में जब एक नारी, पत्नी बनी, समीप आई तो जीवन सुधरा नहीं। मशीन के कल-पुर्जे ऐसी सीमित और निश्चित गति से चल रहे

कि जो नारी उसने पाई, वह उनमें ही खो गई। आफिस के कागजों को लिखने के बाद, घर पर आ नारी-आहट में अब कोई नवीनता नहीं रह गई थी। रोज के घंटे डायरी की कोरे लाइनें बढ़ाते थे—नारी को बूझने और समीप लगा लेने का उत्साह, बात की बात रह गई थी। एक निश्चित बटिया पर वह चल रहा था—बस !

रोज के इस जीवन में एक व्यवस्थित गति आई। नीरसता और रूखेपन का वह जीवन कुछ और ही बन गया। एक दिन वह समीप की नारी—पत्नी, उसे 'पिता' बनाने का दावा दे कर चूक गई। और नारी की अबूझी संज्ञा उसके हृदय से लगा, हट गई। बच्चा माँ के पास—एक दिन आगे कूच कर मर गया !

जीवन का जो रूप है, वह कुछ खोकर सूझता है। महीम उस नारी के हट जाने पर समझा, नारी जीवन क्या है ! कितनी बड़ी जरूरत ? आज कामिनी ने दूर पहाड़ जाकर उसे अपनी स्त्री की याद दिला दी। और कामिनी—? कामिनी हो तो—

वह उसके यहाँ गया था। बाजार की गली पार करते-करते, उसने ऊपर देखा; संध्या की वह गीतिका एक कोठे पर गा रही थी। वह ऊपर चढ़ गया ! एक नियमित हाव-भाव में इस नारी ने उसे बहकाया। वह अपने को सँभाल पाया नहीं। एक सारे भूले जीवन को उसे सौंप दिया।

कामिनी महीम के जीवन की थाह अंत में पा गई। वह आखिर समझ गई कि वह क्या है ! वह जान गई—जीवन में भूला, अपने में खोया, यह युवक जो बातें दुःख और वेदना को समेट कर कहता है। वह उसके हृदय पर ठहर। बोझा क्यों बढ़ा रही है। यह युवक जो उसके समीप है, उसे वह अपने को छू भर देने की न सोच, जीवन के अति समीप आँखें मूँदे क्यों खींच रही है। क्या अंत तक वह उसे अपने में दबोचे रह सकेगी ? जब महीम अपनी स्त्री की मृत्यु तिथि का हाल सुनाता, तो वह मन ही मन सोचती, वह क्या जीवन है ! क्या वह उसे वही सान्त्वना और सहृदयता नहीं दे सकती है ? क्या वह उससे यह कहते नहीं डरती कि "मैं तुम्हारी हूँ। तुम्हारी ही आजीवन

रहूँगी। मुझे अपने में स्थान दो। तुम मुझ से डरो नहीं ?'

उधर महीम जीवन में, वेदना और निराशा के काले क्षितिज से घिर रहा था। वह अपने को शून्य में रला देना चाह रहा था,। आन्तरिक अशान्ति में अपने स्वास्थ्य को सौंप जब वह बीमार पड़ गया तो कौन उसके समीप आता! अपने निश्चित अंत में जब वह भूल रहा था, तो एक दिन कामिनी आई। वह अपनी सारी अनुभूतियाँ समेटे—सकुचाई, डरी आई। उसे देख बोली, 'इतने दिनों से आये भी नहीं! किसी से कहलाया तो होता...!'

महीम उस नारी के आगे झुकना चाहता था।

'उफ बुखार में भी शराब! आखिर तुमको क्या हो गया है?'

और नियमित सीमित चर्य्या के साथ कामिनी के समीप रह कर वह भला हो रहा था। कामिनी उसे नारी छाँह से ढँके रही।

कुछ दिन बाद, एक दिन सन्ध्या को आफिस से लौट कर वह आया था। भूले जीवन के पन्ने पलटता अपनी स्त्री का फोटो देख रहा था। कामिनी न जाने कब आई। उसे ध्यान मग्न पा कुतूहल से चुपके पास आई और चित्र को देख समीप सरक गई। दरवाजे को जरा हिला, उसे सँभलने का मौका दे, अन्दर आ पूछा, 'कम्पनी बाग नहीं चलोगे? ताँगा बाहर खड़ा है!'

महीम ने कामिनी को देखा। कवितामय शृंगार की उस प्रतिमा को खूब देखा! नाक पर छोटी-सी नथ थी। उसमें छोटा मोती था। वह जामुनी रंग की कामदार साड़ी पहने थी! बालों में क्लिप थे और जूड़े पर बेले का हार गुँथा हुआ। चप्पलें पहिने थीं। सुन्दर थी—सच की सुन्दरता! फिर वह जरा सँभल पाया था कि कामिनी ने उसके गले में हाथ डाल पूछा, 'आज सुस्त क्यों हो?'

'नहीं तो!' वह फोटो को किताब के अन्दर रखता हुआ बोला।

'जीजी का फोटो है क्या?'

इस प्रश्न का उसने उत्तर नहीं दिया।

'जीजी भली थी या मैं—?'

वह चुप ही रहा।

'अच्छा, कभी जीजी रूठती भी थी ?'

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। अपने को अपने में ही रख भर लिया।

'जाने दो इन बातों को!...हाँ, कभी आपस में झगड़ा होता था ?'

महीम ने सारी बातें अनसुनी कर पूछा, 'कल तू कार्निवाल गई थी ?'

'हाँ! देखो तुम नहीं आए, बड़े झूठे हो जी! ऐसे ही झूठे वायदे जीजी से करते रहे होगे ?'

महीम बात पलटता बोला, 'घूमने तो मैं न जा सकूँगा। कुछ जरूरी काम है!'

कामिनी ने खूँटी पर से कमीज उठाई और जम्पर उतार कर पहन ली। फिर सफेद फैन्ट साड़ी अलग कर 'बाडी' के ऊपर पहिनी और 'फेल्ट हैट' लगा, पास आ उसके 'कालर' को पकड़ बोली, 'देखो तो मेम-साहिबा लगती हूँ न!'

'मैं क्या जानू ?'

'ओहो! तुम साहब हो न! एक बात सुनोगे ? मुझे जीजी का एक फोटो दोगे ?'

महीम ने कुछ नहीं कहा।

'अच्छा, नहीं दोगे ?'

महीम ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

कामिनी ने किताब खोलकर फोटो निकाल लिया और बोली, 'जीजी खूब भली है।'

'कामिनी!'

'अच्छा, यह जीजी का कब का फोटो है ?'

'कामिनी!' महीम ने धीमे रूखे स्वर में फिर कहा।

'जाने दो, मत बतलाओ जी मैं पूछने वाली कौन होती हूँ!'

'कामिनी!' कह महीम ने फोटो उसके हाथ से छीन लिया और फाड़ टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया। बोला, 'कामिनी, वह मेरी कहाँ! तुम्हारे और मेरे बीच फोटो की उलझन क्यों रहे ?'

कामिनी डर गई ! चुपचाप फोटो के टुकड़ों को उठाकर बोली, 'तुम बड़े खराब हो !' और आँसू की धारा बह चली। वह टुकड़ों को उठाती, सँवारती, सिसकती-सिसकती, बाहर चली गई। महीम ने उसे रोका नहीं। वह रोक सकता था, फिर भी कुछ नहीं कहा। कामिनी की वह निरी भावुकता नहीं थी—समझ कर वह चुप रहा। सामने उसकी साड़ी पड़ी थी। पास ही उसका जम्पर 'कोच' पर पड़ा था। कामिनी रूठकर अथाह वेदना को बिखेरती होश हवास खो कर सफेद पैंट और कमीज में ही बाहर चली गई थी।

कामिनी दूसरे दिन नहीं आई। तीसरे दिन भी नहीं। एक सप्ताह तक वह नहीं आई। महीम उससे अलग नहीं रहना चाहता था। वह उससे हटे क्यों ? जहाँ पर वह थी वहीं रहने की सोच, कुछ निश्चित कर वह एक संध्या को उसके घर पहुँचा।

कामिनी उदास बैठी थी। बाल बिखरे थे। कामिनी के निजी कमरे में पहुँचकर उसने देखा कि कामिनी ने फोटो जुड़वा कर उसमें काँच लगा टाँग दिया है। वह चुपचाप बैठा सिगरेट फूँक रहा था। वह आई और चुपचाप पास एक कुरसी पर बैठ गई। कुछ देर में बोली, "तुम बड़े खराब हो जी ! जीजी को तुमने इसी तरह मार डाला है ! जीजी का फोटो फाड़ डाला—"

वह आगे नहीं बोली। महीम ने उसकी छलकती आँखें देखीं। सोचा, यही नारी तो वेश्या है। वेश्या यदि भावुक हो तो दूकानदारी कैसे चल सकती है।

कामिनी बाहर चली गई थी। महीम चुपचाप बैठा रहा। फिर कुछ सोच कर नौकर को बुला 'परफेक्सन' की एक बोतल मँगवाई। कामिनी ने सब सुना, रोकना चाहती थी, लेकिन रोका नहीं ! महीम गुस्सा हो जावेगा। वह महीम को अभी पूरा समझी कहाँ थी। चुपचाप उसके समीप आई। बोली, 'ड्रिंक करोगे क्या ?'

'हाँ, तबीयत कर रही है।'

'और खाओगे क्या ?...अच्छा, आमलेट बना देती हूँ !'

'नहीं, रहने दो। बाज़ार से मँगवा लिया है।' महीम ने टोका।

'फिर-फिर झगड़ा ; बात-बात में झगड़ा ! कुछ खाओगे क्या ? अंडे फ्राई कर लूँ ?'

महीम ने सिर हिला दिया। कामिनी ने नौकरानी से अंगीठी पर कोयले सुलगवाए और 'फ्राइंग पैन' रखकर अपने काम पर जुट गई! महीम सोच रहा था—यह कैसी नारी है ! जरा ठेस लगी रो उठती है। साथ ही झगड़ भी पड़ती है। इतना ही क्यों, एक समझदार स्त्री के समान सीख देना चाहती है। और है मात्र एक वेश्या ! जो बचपन से पाल-पोस कर, इसी लिए सँवारी गई है कि युवकों से हँसे-खेले। उन पर अपनी मोहनी डाल, चुम्बकीय आकर्षण में अपने तक समेट ले। उनके हृदय के सारे तत्वों को मूकता से छीन, अपनी जरा भी श्रद्धा उनको न सौंप उलझाए ही रहे। वह मंत्र-मुग्ध नारी—!

'परफेक्सन' आ गया था। नौकर ने मेज पर सोडा और बरफ कूट कर तश्तरी पर रख दिया। कामिनी अपनी प्लेटें ले आई थी।

महीम ने कहा, 'ऐसे ही रूखे-रूखे भाव में साथ बैठेगी क्यों ?'

'अच्छा बोलो, क्या पहिन लूँ ?'

"जो तुम्हें अच्छा लगे।"

और वह उठी। शृंगारदान के पास खड़ी हो, अपने बाल सँवारे। मुँह पर हलकी क्रीम मली—जंपर बदल रही थी कि हँसती बोली—'तुम आँखें मूँद लो—'

वह जरा मुसकराता कह बैठा 'आज बड़ी शरम लग रही है।'

'हूँ।' वह खिल-खिलाती साड़ी बदल उसके पास बैठ गई।

महीम ने सोडा खोला और दोनों गिलासों में जरा जरा शराब उड़ेली फिर सोडा··

कामिनी ने जरा सी पी; महीम ने खूब पी डाली।

महीन जीवन को जरा भूल रहा था। जब हलका नशा चढ़ा तो कामिनी से बोला, 'तुम तो गृहस्थी का सब काम जानती हो। मैं तुम से शादी करूँगा ?'

'नहीं, नहीं', कह कामिनी छिटक कर हट गई। फिर सँभल कर बोली, 'नहीं, नहीं जी, ऐसा नहीं हो सकता।'

'कामिनी, यह झूठ नहीं है। तुम डरती क्यों हो?'

'नहीं, नहीं!' कह कामिनी सँभल कर अलग हट गई।

'कामिनी? बात क्या है? तू दिल में छिपाये, दबाये क्यों रहती है? साफ साफ क्यों नहीं कहती है। आखिर क्या चाहती है?'

'नहीं, नहीं!' कह कामिनी और दूर सरक गई।

महीम कुछ न समझ सका—वह पास जाकर बोला, 'कामिनी, बात क्या है?'

'कुछ नहीं।'

'कहो न—?'

'कुछ नहीं है।'

'कामिनी!'

कामिनी चुप थी।

महीम ने पास जाकर धीमे स्वर में कहा, 'कामिनी?'

कामिनी फिर भी नहीं बोली, महीम ने उसे छूते कहा, 'कामिनी!'

कामिनी कुछ नहीं बोलना चाहती थी।

वह कामिनी की ठोड़ी हिलाता बोला, 'कामिनी!'

अब जरा कामिनी संभली। अपने को उसके वक्षस्थल से लगा लिया। अपनी चूकी सामर्थ्य जमा कर, जरा अपने में आई। पूछा, 'एक बात कहोगे?'

'क्या?'

'कहो कि कहूँगा।'

'कहूँगा!'

'तुमने जीजी का फोटो क्यों फाड़ डाला था?'

वैसे ही!'

'कुछ न कुछ बात तो होगी ही?' कामिनी की पलकें भीगी थीं। उसने उसके आँसू पोंछने की सामर्थ्य अपने में नहीं पाई। वह कुछ संभल कर बोली, 'गुस्से में कोई ऐसा करता है! अच्छा, अब घूमने चलोगे?'

'नहीं, जी अच्छा नहीं है।'

'क्या?' कामिनी ने महीम का हाथ देखा; खूब बुखार चढ़ आया था। 'चलो तुमको घर पहुँचा दूँ।'

कामिनी ने ताँगा मँगवाया और महीम के घर पहुँची। महीम को खूब बुख़ार चढ़ा था। कामिनी समझ गई थी कि फोटो ही उसे घुला रहा है। वह फोटो-वाली नारी नहीं बन सकती है। कामिनी पंखा झल रही थी। महीम बुखार में बड़बड़ा रहा था। एकाएक में बड़बड़ाया, 'सुधा!'

'सुधा' पर कामिनी अटकी। यही नारी तो महीम की पहेली है!

महीम एकाएक चौंक कर उठ बैठा। बोला, 'मैं बड़बड़ा रहा था क्या?'

'अब जी कैसा है?' बात टालने को वह माथा दबाती बोला।

'तुम बहका क्यों रही हो; तुम झूठ क्यों बोलना चाहती हो? मैं सब कुछ समझता हूँ।'

कामिनी अपने को सँभाल नहीं सकी। कह बैठी, 'हाँ, सुधा का नाम लिया था।' और माथा दबाती रही।

महीम कुछ देर चुप लेटा रहा, फिर उठा और बोला, 'कामिनी! सुधा अभी अभी स्वप्न में ठठोली करती मुसकरा रही था। मुझे धोखा देकर चली गई। ज़रा कुछ सोचा तक नहीं। अब तू मेरी है न कामिनी?'

कामिनी का हाथ उसने पकड़ा। कामिनी संज्ञाहीन हो रही थी कहा, 'बोल, मैं तुम्हारी हूँ।'

हारी कामिनी ने कहा, 'मैं तुम्हारी हूँ।'

वह बोला, 'फिर कह—मैं तुम्हारी हूँ!'

कामिनी मन्त्र मुग्धा सी-बोली, 'मैं तुम्हारी हूँ।'

महीम ने कामिनी को घूर कर देखा—कितनी सुन्दर थी। सोने का रंग, माथे पर थी लाल बेंदी–कितनी सुन्दर, सजीव प्रतिमा! कामिनी में वह सब कुछ पा गया। कामिनी से वह दृढ़ प्रतिज्ञा करा लेना चाहता था कि वह कभी उसे नहीं छोड़ेगी। इस दृढ़ निश्चय की सोच, उसने कामिनी का हाथ ज़ोर से पकड़ा और कहा, 'कामिनी अब तू मेरी ही है।'

कामिनी के हाथ की एक चूड़ी इस सनक में टूट कर चुभ गई। वह चीख उठी। महीम ने देखा लाल-लाल खून? सारा नशा उतर गया। उसने कामिनी को छोड़ दिया।

कामिनी थकी-सी पास के कुरसी पर बैठ गई। हाथ धोकर उसने एक रेशमी रुमाल बाँध लिया था।

महीम बुखार में बड़बड़ा रहा था। और अब कामिनी आन्तरिक पीड़ा की अनुभूति में रमी उसे पंखा झल रही थी।

महीम की वही-वही कामिनी पहाड़ चली गई थी। महीम उसे रोक सकता था, फिर भी रोका नहीं। एक माह पहिले कामिनी ने पूछा था, 'यहाँ बड़ी गरमी पड़ने लगी है। हम नैनीताल जाने की सोच रहे हैं।' और इसने हाँ भर दी थी। बस, कामिनी पहाड़ चली गई थी।

ताँगा मकान पर पहुँच गया था। महीम चुपचाप कमरे में जाकर सोफा पर गद् से लेट गया। सोच रहा था, 'यह कामिनी क्या थी? एक नारी, वेश्या!' कामिनी को वह पूरा समझ लेने तुला हुआ था। अन्त में मन ही-मन बोला, मेरी कामिनी, वह पगली है!'

—: ० :—

चीन के आँचल में

"आप बच गए। हमें बड़ी खुशी हुई।" शोया घोड़े को पास ला, चीनी भाषा में बोली।

"आप लोगों की वजह से।" जनरल ने जवाब दिया।

"चोट ज्यादह लगी है?"

"नहीं।"

"पीड़ा होगी?"

"अब नहीं है। भला आप लोगों का अहसान क्या भूल सकूँगा!"

जापानी जनरल सोजो ने अपने को रेगिस्तान में उन अजनबी लोगों के 'काफले' के बीच पाया। यह लड़की कितनी हमदर्द है! अभी-अभी इसने

सब घावों को धोकर, पट्टी बाँधी थी। वह पहचान कर कितने नजदीक सहज ही में आई। पहचान, जैसे वह इस गुण की अवहेलना नहीं कर सकी। वह बिलकुल जापानी गुड़िया-सी लगती थी। नीले फीते से बँधे, काले-काले कटे सुन्दर बाल, बड़ी-बड़ी बादाम सी आँखें और लापरवाही से बच्चों की तरह कपड़े पहिने थी। सुन्दर खाकी ब्रिचेज, जापानी अफसरों के लम्बे बूट। एक चमड़े के केस में 'रिवालवर' लटक रहा था। वह चीन के भीतर किसी पर्वतीय देश की लगती थी।

खेमें उखड़ चुके थे। शोर-गुल, बन्द हो गया। सब समान खच्चरों पर लद चुका था। चालीस-पचास आदमी, कुछ गधे, कुछ घोड़े और बाकी ऊँट पर सवार थे। सब के चेहरों से निष्ठुरता टपक रही थी। इन लोगों का काम लूट-मार करना था। शायद हमला कर, जो कुछ हाथ लगे उसी में संतुष्ट होने के अलावा मनुष्य की कीमत का ज्ञान इनको नहीं होगा।

शोया इनके बीच दया की एक पुतली थी। सरदार की बहिन होने से उसका मान था। उसकी आज्ञा का उलंघन न होता। वह उनकी क्रूरता के बीच सारी माया, ममता सिमेटे; परदेशी को परसने दिल में जगह दे देने में कंजूस नहीं थी। वह अपने नारी-आँचल के आश्रय में दुखी की देख-भाल तत्पर हो करती। कोई उसे जान न पाता। वह उसे अनजान न मानती। उसके व्यवहार में अपने को खो, वहीं रह जाती। ऐसी थी शोया, जिसको पास पाकर जनरल अब अपने को एकाएक बिराना नहीं मान लेना चाहता था। वह कोशिश कर रहा था कि कमजोरी की वजह से कहीं बेहोश न हो जावे। बार-बार आँखों के आगे काला परदा पड़ता। वह चुपचाप सावधानी से आँखें मूँद लेता। घाव में पीड़ा थी। दिल भारी था। कन्धे के पास से गोली आर पार निकली थी। पाँव पर गहरे घाव थे। हाथ नहीं उठते थे। चेहरा बिलकुल फीका लग रहा था। शोया ने सब जान लिया। वह समझ गई। एक ओर लटकती बोतल उठाई, और सौंप दी। जनरल ने कुछ 'आसव' पी लिया। जरा जीवन आया। शोया ने एक सजीवता बिखेर सीमा बाँध दी। वह इस सीमा को नहीं लाँघ सकता था। जनरल की पीड़ा मिट गई। शोया

और पास आकर बोली—"थक तो नहीं गए।"

"नहीं, उस खेल को जिन्दगी का आखिरी खेल समझा था। लेकिन...?"

"खेल।" शोया ने आश्चर्य में बात काटी। आँखें उठा कर देख, फिर नीचे झुका लीं।

"खेल ही तो वह लगता है। मौत आई, निशाना चूक जाने पर भाग गई। अच्छा, खैर तुमको किस नाम से पुकारूँ?"

शो...या।" वह धीमे स्वर में बोली।

"क्या कहा शोया? मैं वह कह सकता हूँ?"

शोया ने सिर हिलाया।

"शोया...!" जनरल फिर बोला।

शोया ने जनरल को ओर कुतूहल से देखा।

"तुम इस गिरोह की देवी हो।"

कुछ घण्टे में ही अथाह दुःख के बाद, सहारा पाकर वह भावुकता में बह गया।

और शोया बात ठीक न पकड़ कर हँस दी। वह उसे गिरोह के अपने गिने-चुने साथियों से बाहर पाती। जो कहीं उनसे मेल नहीं खाता था। उनसे अलग सा लगता। फिर इसके नजदीक एक अज्ञात गुदगुदी क्यों उठती थी?

"शोया—!" जनरल ने रुक कर धीमे स्वर में पुकारा। शोया नजदीक आई। जनरल चुप रहा; कुछ कहना चाहकर भी न कह सका। आगे कोई बात नहीं हुई। सब चुपचाप आगे बढ़ रहे थे।

सिर्फ 'तीन दिन' जनरल के दिल में बात उठी और खो गई। वह तीन दिन गहरा घाव बना चुके थे। अब घाव मुलायम पड़ गया था। दीखता नहीं था। लड़ाई की याद आती थी। धुँधली-धुँधली बातें, चलचित्र के समान आगे आ, ओझल हो जातीं। आहें, कराहना, विषाद का करुण गीत, वेदना पूर्ण गुञ्जन—वह सब अब तक साथ था। जीवन की धुँधली रेखा फिर चमक

उठती। वह जीवित था। वह मौत को धोखा न दे, खुद धोखा बन कर, अब इस नारी की छाया का सहारा पा चल रहा था। अपने से खुद अविश्वास होता। अन्यथा यही नारी तो कहती है—चल। कहीं उसकी जरूरत है क्या? वह तो बिलकुल कोरा था। सब कुछ जीवन में इकट्टा की बातों को भुलाकर, चीन की उस टुकड़ी के आगे खड़ा था। वह उसे मौत का हुक्म सुना चुके थे। फिर अपने विश्वास को ठीक मान वे चले क्यों गए? उनके जीवन के प्रति घृणा के अलावा और कुछ उन लोगों के पास नहीं था। असहाय, तनी राइफलों के आगे उसने न सोचा था, आगे वह फिर 'गुन-गुन' करेगा। अब यह मौका भूल सा लगता। जिसकी याद प्यारी-प्यारी थी। मौत वास्तव न थी। नहीं उसे साथ ले लेती। इस तरह उपेक्षा कर न चल देती। इसी मौत पर वह सब कुछ सोच चुका था। कहीं कुछ डर बाकी न था। अब अपने प्रति सारे खोए विचार एकाएक वह बटोर-बटोर नहीं पाता था। वे सब विचार चूक गए थे। एक अन्तिम काला धब्बा मात्र बाकी बचा था। सोचा था कि वह धब्बा उसे ढक लेगा। वहीं वह सो जावेगा, गोली के साथ जीवन में बँधा रहेगा। किन्तु वह धब्बा एक सुफेद मिट्टी लकीर बना कर ओझल हो गया। उसे पसरने जगह मिल गई थी। अब फिर से सब सोच लेने को काफी खाली वक्त पास पड़ा था।

सिलसिलेवार घटनाएँ आई थीं। उनके भीतर वह था। वहीं वह रह गया। छुटकारा नहीं मिला। उस बन्धन का तत्व उसने पा लिया। परिस्थितियों ने उलझन आगे रख दी। वहीं एक ठिकाना पा, वह खुद तर्क करता, राय देता हुआ सोचता और अन्त में चुप रह जाता था। सन्देह ने उसे खूब ढक लिया था।

पिछली सन्ध्या को वह कैदी था। चीन की उस टुकड़ी के नायक ने फैसला सुनाया—अगली सुबह सब गोली से उड़ा दिये जावें। झोपड़ी में बिलकुल अँधियारा था। बीच-बीच में कहीं-कहीं सूराख थे। वहीं से बाहर बारीक नजर पड़ती थी, अन्दर जरा रोशनी आती। काले-काले अन्धकार में उस जरा रोशनी का एक सहारा था। एक बड़े सूराख से बाहर उसने देखा; चारों ओर बड़ा

रेगिस्तान, सिर्फ झोपड़ी से जरा हटे कुछ डेरे पड़े थे। दूर तक सिर्फ रेत ही रेत नजर पड़ती थी। कहीं आँखें टिकती न थीं; रेत की कणों की उस बड़ी ढेरी में आँखें बिछ जातीं। ख्याल कुछ आता कि उसकी आँखों की ओट में ही कहीं और पड़ाव भी तो दुबके होंगे। कौन जाने वहाँ क्या हो रहा हो। वह यह नहीं जान सकता है। वह तो अब साध्य सा जीवित था। जिसका जीवन कोई महत्व नहीं रखता है। जिसकी मौत पर कल एक मखौल चीनी सिपाही उड़ावेंगे। कौन जाने वे उसके शव को कुचल, मानवता की गहरी पहेली को कुछ सुलझा दें। जहाँ युद्ध के लिए दिमाग आपस में विद्रोह पैदा करते हैं; अपने को सभ्य कहला निरे असभ्य बर्ताव को सब ही मान लेने को तैयार हैं। जहाँ किसी का आदर नहीं। एक दूसरे के प्रति बनाई घृणा से मुँह बिचका चुपचाप चले जाते हैं; एक दूसरे का हाल पूछ लेने की किसी को फुर्सत नहीं है।

सन्तरी बाहर घूम रहा था, उसे इस कैदी की रक्षा करनी थी। उसकी लापरवाही पर रक्षा जरूरी थी। यह सब सिर्फ तमाशा लगता है। आज दूसरे के जीवन का मोल जान, हिफाजत कर, कल उसी को ठुकरा देना; यह बात उसे नई लगती थी, स्वार्थ कहीं छूता नहीं मिलता था। फिर वह सन्तरी बार-बार आँखों के आगे आता। चुपचाप कुछ कदम आगे बढ़ा 'मिलिटरी' के कायदे कायदे से फिर लौट आता। सामने कुछ दूरी पर चीन का एक बूढ़ा ऊँट के बालों से अपना थैला सी रहा था। अजीब गँवारी हँसी हँसता, वह गन्दे-गन्दे गीत गा रहा था। वह पागल-सा लगता था। वह क्यों हँसता था। अपने आप हँस जाना यह आदत सब को नहीं पड़ती। और वह बूढ़ा आँखें बोरे पर टिकाये उसे पास ला फिर सुई और तागे में रह जाता। एक बड़ा लुण्डैस् कुत्ता पास आ भू-भू-भू करता फिर भाग जाता था। कुत्ता इस सिलाई की क्रिया से परे देखता उस बूढ़े पर, उसके पुचकारने पर 'भू-भू-भू' कर उसे डरता हुआ दूर हट जाता।

धूल से भरी फर्श, उसमें पाँव डूबते लगते। वह चुपचाप इधर-उधर टहलता रहा! नींद आने लगी। चाहता था कि सो जावे, कहाँ और कैसे सो जाय यह समस्या न हटती थी। फर्श पर बदबू चल रही थी-यह एक मजबूरी थी।

वहीं उसे रहना था। अपनी इस शुद्धता से स्पर्धा होती थी। अब मैल में जगह पाने में हिचक क्यों थी। संतरी के पाँवों की आवाज उस सुनसान में साफ-साफ सुनाई पड़ती थी। बीच में कभी-कभी कुत्तों का स्वर, रुदन, प्रतिध्वनि में फैल जाता था। ठण्ढ पड़ने लगी। वह जानता था कि रात्रि इसी प्रकार इधर-उधर चल-फिर कर काटनी पड़ेगी। आज ही उसे क्या नंगी धरती पर सोना बदा था। कल तो फिर यह एक सनातन बात दुहराई जावेगी। वह आज उस धूल से भरी धरती से क्यों डर रहा है। हल्के पाँव किसी जन्तु से छू गये। उसके खड़े बाल पाँव से लगे। वह हट गया। वह चूँ-चूँ-चूँ करता हुआ भाग गया। उसे बड़ी हँसी आई, वह अन्धकार में खिलखिलाया! ठण्ढ बढ़ती गई, कँपकँपी लगने लगी। एक कोने में चुपचाप दुबक कर वह बैठ गया। उसे धीरे-धीरे नींद ने घेर लिया था।

नींद टूटी, दूर कहीं गोलियों की धाँय-धाँय सुनाई पड़ी। उसने बाहर देखा, बिलकुल सन्नाटा था। लगा वह भी ऐसी ही कुछ गोलियों के बीच सुबह को खो जावेगा। जमीन पर पड़ा रहेगा, चींटियाँ इस शरीर पर लगी खेलेंगी। फिर बाहर सन्नाटा चीरती गोलियों की आवाज! दूर कहीं हल्की चमकीली रेखा उठती और अस्त हो जाती। वह चुपचाप रहा, गोलियों की आवाज थम गई थी। फिर······।

किसी ने ठोकर लगाई। नींद उचट गई, चीनी सिपाही खड़ा था। वह उसे ले गया। उसने देखा, पाँच कैदी—एक, दो, तीन, चार······

बीस सिपाही, एक, दो, तीन······

बीस गज का फासला······

धाँय—धाँय—धाँय···पहली फायर।

धाँय—धाँय—धाँय···दूसरी फायर।

धाँय—धाँय—धाँय···तीसरी फायर।

अब उनका अफसर आगे बढ़ा, एक-एक कैदी को उसने जूते से ठुकराया। एक हिलता-डुलता लगा। उसने पिस्टल निकाली, माथे पर निशाना साध कर गोली दाग दी।

पाँच और कैदी······

फिर······

फिर······

धाँय—धाँय—धाँय······

धाँय······

धाँय······

अब जनरल···

सामने है सिपाही तैयार खड़े।

फासला—बीस गज।

'फायर !'

धाँय, धाँय, धाँय······

बहुत गरम। उसने आँखें खोलीं। अपने को एक काफले से घिरा पाया।

जनरल अब थक गया था। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे। उनके साथी काफी आगे बढ़ गये थे। कुछ सुस्ताकर जनरल ने घोड़ा आगे बढ़ाया। बोला, "आप लोगों ने मुझे कैसे पाया ?"

"वे हमें देखकर भाग गये।"

"और मेरे साथी ?"

"·········" एक चुप्पी।

"सब मर गये ?"

कोई जवाब नहीं।

"कैप्टिन भी ?"

शोयाने आँखें उठा कुछ समझ लेना चाहा, वह नहीं बोली।

"कल तक हम साथ-साथ थे। पिछले महीने उसकी शादी हुई थी। लड़ाई शुरू होने पर······।"

जनरल रुक पड़ा। उसने शोया की ओर देखकर पूछा, "बोतल !"

शोया ने बोतल दे दी। जनरल ने कुछ घूँट 'आसव' पी लिया, फिर बोला, "उसकी बीबी हमें दूर तक पहुँचाने आई थी। उसकी छोटी

बहिन·····।” वह चुप हो गया। कुछ याद आई, पूछा, “आप लोग मुझे क्यों ले आये ?”

यह सवाल कर वह अपने उस वायदे को याद करने लगा, जो उन दोस्तों ने किया था, साथ जियेंगे और मरेंगे। लेकिन बात ठीक साबित नहीं हुई। एकाएक दिल में विद्रोह उठा। अपने घोड़े का मुँह फेरते उससे कहा, “मैं लौट कर उसके पास हो आऊँ। उसे देखे बिना मन नहीं मानता।”

शोया आगे बढ़कर बोली, “तुम बहुत थक गये हो। वहाँ अब क्या मिलेगा। जानवरों से बची कुछ हड्डियाँ·····!”

जनरल रुक पड़ा। यह नारी झगड़ कर केप्टिन के आगे क्यों खड़ी हो रही है। वह केप्टिन की उन हड्डियों का क्या करेगा। उन हड्डियों को जापान से दूर क्या इस रेत में रखना बदा था। वहीं वे पड़ी हैं। जिन पर कभी मांस था। मांस में जीवन भी था। उसी मांस को कपड़े से ढकना लाजिम लगता। व्यक्ति से ऊपर था एक देश। जिस देश की जरूरतों के लिये उन हड्डियों को वहीं पड़ा रहना पड़ा। जो अब अहसान न थीं। न उनकी व्यवहार में कोई जरूरत थी। यह आपस की लड़ाई, इतनी ढेर सी हड्डियों के बीच आज दुनिया की सभ्यता को चलना है। जहाँ एक दूसरे को धोका देकर इसी तरह दूर-दूर कोनों में हड्डियाँ पड़ी रहेंगी। उन हड्डियों के अस्तित्व में कहीं सभ्यता 'भूल' जाना न चाहे। पीछे दूर तक उसने देखा—कुछ नहीं—भारी रेत का मैदान। लगा वे पड़ी लाशें कुछ उठतीं-उठतीं दूर सी हटीं। भ्रम में वह बोला, “तुमने देखा शोया।”

“क्या ?” शोया नजदीक आई।

“वह देखो” उसने उँगली उठाई।

शोया उससे टिकी, सिर मिलाये बोली, “कुछ नहीं।”

“वह केप्टिन की लाश !”

शोया ने जनरल का हाथ अपने में ले कहा, “नामुमकिन के फेर में पड़ना उचित नहीं, अपने अधीन बात न थी।”

उसके स्पर्श से एक गुदगुदी जनरल के दिल में हुई। शोया उसके दिल में पहुँच चुकी थी।

"आज डेरे पर पहुँच कर तुमको 'अफीम' बना कर खिलाऊँगी।"

"अफीम······" जनरल चौंका।

"हाँ।"

"तुम क्या करती हो?"

"अफीम का व्यापार। कानून को हम नहीं मानते।"

"कानून को······।"

एकाएक दूर उन्होंने देखा कि कुछ सवार आ रहे थे। शोया बोली। "यहाँ सब एक दूसरे के दुश्मन हैं। हर वक्त खतरा रहता है। भागो—भागो!"

दोनों ने अपना-अपना घोड़ा बढ़ाया। तेजी से घोड़े दौड़ रहे थे।

दूर गड़गड़ाहट सुनाई दी। हवाई जहाज दीख पड़े। गड़गड़ाहट और नजदीक आती लगी। फिर वही आवाज। हवाई जहाज चक्कर लगा रहे थे।

"तुम आगे बढ़ो।" शोया बोली, "मैं इनको इधर-उधर बहका दूँगी। तुम आगे भागो।"

शोया जानती थी कि अब छुटकारा नहीं है। वह खुद खतरे में पड़ सकती थी।

"शोया!" जनरल बोला।

शोया सारी परिस्थितियों से परिचित थी। भागना बेकार लगा। वह चुपचाप जनरल के नजदीक लग कर खड़ी हो गई।

सामने एक बम गिरा। रेत ऊपर उठी। चारों ओर रेत फैल गई।

फिर एक जहाज उनके ऊपर मँडराया। काफिले के सरदार ने पास आ घबरा कर कहा, "भागो, वक्त नहीं है।"

शोया निश्चित खड़ी थी।

सरदार ने फिर कहा, "पगली न बन।" खुद आगे सरपट घोड़ा दौड़ाया।

शोया स्थिर थी। उसने अपनी 'पिस्टल' उठाई और जहाज की टंकी पर निशाना साधा।

जनरल ने कहा, "यह क्या शोया ?"

शोया बोली, "छोड़ दो, चुप रहो। हमारे साथ इनको लड़ाई लड़ने का क्या हक है। क्यों ये हमारी स्वतन्त्रता कुचलना चाहते हैं ?"

उसे शोया समझदार और जानकार लगी। जहाज एक ओर हटा, फिर कुछ बम बरसाये। चारों ओर रेत का गुबार। शोया और जनरल उस रेत में छुप गये।

"शोया।" जनरल ने पुकारा।

देखा, सामने जहाज खड़ा था। दो अफसर उस परसे उतरे। शोया ने अपनी 'पिस्टल' उनकी ओर की।

जनरल चौंककर बोला, "शोया।"

धाँय—धाँय—धाँय—गोली चली। उनमें से एक गिर पड़ा। शोया ने देखा, 'पिस्टल' खाली थी! उसने गले से तावीज निकाल खोला, एक गोली निकाल, मुँह में डालने को थी कि जनरल ने टोका, "शोया, खुदकशी!"

शोया ने गोली फेंक दी।

इसी बीच दूसरा अफसर नजदीक आकर बोला, "आधीनता।" शोया ने अपनी खाली पिस्टल देते घूरते कहा, "खाली है।"

"आगे बढ़ो।" अफसर बोला।

दोनों चुपचाप आगे बढ़े। जहाज में चलते एक बार शोया ने रेगिस्तान के चारों ओर देखा। एक सूनी दृष्टि उस पर डाली।

दो घण्टे बाद वह जापानी सेना में पहुँच गये। साँझ होने को थी। जनरल का सारा बदन दुःख रहा था। वह उठ नहीं सका। वह उतारा गया। शोया साथ थी, शोया को दो सिपाही ले गये। जनरल आगे बढ़ने को था कि कमांडिंग ने रोक लिया।

कमांडिंग ने अपने मोटे हार्न के चश्मे को अलग हटाते कहा, "बैठ जाओ।"

जनरल बैठ गया।

"तुम दुश्मनों के हाथ पड़ गये थे ?"

"हाँ"

"कितने आदमी?"

"चालीस"

"और सब?"

"मर गये। मुझे शोया ने बचाया। मैं उम्मीद करता हूँ कि उसके प्रति ठीक वर्ताव होगा।"

"तुमको अभी यहीं रहना होगा। कुछ दिन 'मेडिकल वार्ड' में रहना जरूरी है।"

"एक बात..."

"क्या..."

"शोया...?"

"तुम अब जा सकते हो।"

पन्द्रह रोज बाद।

शोया के ऊपर कमांडिंग हिसोंग, जनरल और एक अफसर के 'ट्रिब्यूनल' ने कुछ चार्ज लगाये।

पहला—जापान के प्रति उसकी घृणा।

दूसरा—जापानी वायुयान के अफसर की हत्या।

तीसरा—भागने की कोशिश करते हुए दो चौकीदारों की छुरी से हत्या।

एक मत से सब ने मौत की सजा दी!

जिस टोली ने उसे गोली से उड़ाया, उसका नायक जनरल था।

शोया की लाश भी रेत के मैदान में पड़ी रही।

और उसी रात जनरल कहीं चला गया। आज तक वह लौटा नहीं है!

सपने की दुनिया

वह अचरज की बात ही थी; पर रमेश ने अचरज को मिटा डाला, कारण कि भ्रम की कोई गुञ्जायश वहाँ न थी। सामने मेज पर चिट्टे गुलाबी रंग

के कुछ चीर पड़े थे। कुछ असावधानी और उलझन की वजह वह ठीक-ठीक रंग नहीं पाये थे। यह तो अक्सर जल्दी में रोज ही हो जाता है। कहीं कपड़े पर यदि ठीक रंग नहीं बैठा तो वह जगह कोरी ही रह जाती है। पर इसमें शक नहीं है कि हर पहलू से मोहन का 'फारमूला' सही है। कहीं कोई अड़चन इस आविष्कार में बाकी नहीं रह गई थी। सामने जो 'टेस्ट-ट्यूब रखे थे, उनमें वही गुलाबी रंग का घोल था। उसके भीतर बार-बार लगता कि मोहन मुस्कराता हुआ कहना चाहता है, 'मैंने तुझसे सही बात कही थी। तू तो बेकार उसे झूठ गिन रहा था।'

झूठ............?

यह मोहन जिन्दा है, क्या यह झूठ नहीं। एक अरसे से वह बीमार है। पहले डबल-निमोनिया हुआ। कुछ तन्दुरुस्ती सुधर रही थी कि लापरवाही से, फिर रोगी हो गया। जो रोग पहले साध्य था, आज अब उसीको डाक्टर असाध्य साबित करते जा रहे हैं। बात-बात में सन्देह होता है, जैसे कि उनको रोगी से कुछ उत्साह नहीं, न सरोकार रखने वाला तकाजा ही है। जब रमेश छेद-छेद कर सच्ची बात पूछने की कोशिश करता है, तभी सरकारी अस्पताल का वह बड़ा डाक्टर झुंझला कर कहता है "मिस्टर, यह अस्पताल कोई यतीमखाना नहीं है, न हमारे हाथ में ऐसी दवा है कि मुरदे को प्राण दे सकें। आप अपने साथी का कहीं और जहाँ चाहें दाखिल करलें—हमें इसमें जरा भी एतराज नहीं होगा।"

डाक्टर के चले जाने के बाद रमेश चुपके-चुपके भीतर वार्ड में पहुँच, मोहन के सिरहाने खड़ा हो उसके सुस्त और मुरझाए चेहरे को पढ़ लेना चाहता है। तभी नर्स आकर 'टेंपरेचर' लेती है। उसे कहीं भय नहीं रहता। छोटे बच्चे की तरह रमेश उस युवती के चेहरे की ओर ताका करता है। उसकी उस सफेद पोशाक के भीतर उसने कोमल नारी-हृदय को पढ़ लेने की चेष्टा कभी नहीं की। फिर उस डाक्टर के विपरीत वह उसे धीरज देती और समझाती है कि ऐसी कोई खास चिंता की बात नहीं। वह उसे बहुत दृढ़ मिलती है। कभी-कभी तो उस कठोर नारी के सम्मुख रमेश का पुरुष-हृदय पिघल जाता

है। रमेश गद्‌गद् हो न जाने क्या पूछ डालता है, तो वह मुस्करा कर जवाब देती है. "आप तो हैं बावले। वह अच्छे हो जायेंगे। यह मेरा अपना विश्वास है।"

लेकिन मोहन का जीवित रहना जितना कठिन है, उसका मर जाना उतना ही सरल होगा यह किसी तरह रमेश स्वीकार करने को तैयार नहीं है। वह देखता है—आँखें खोल-खोल कर देखता है। उस बड़े अस्पताल में प्रयोग होते हैं। एक ओर नियति का विद्रोह है, दूसरी तरफ मनुष्य का आग्रह! इधर मरीज भरती होते हैं, उधर वहीं विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती है। वह अस्पताल प्रान्तीय सरकार का है। वहाँ से हर साल नामी-नामी डाक्टर पास होकर नगरों- नगरों में इस पेशे को निभाने के लिए चले जाते हैं! वहाँ मुरदों की भी कीमत होती है। उन पर विद्यार्थी अपना सबक दोहराया करते हैं। वह कहीं-कहीं भारी झगड़ा पाता है। यह नर्सों की जाति क्या सारे मरीजों का दुःख पोंछ लेने की सामर्थ्य रखती हैं, जैसे कि वह दुःख घाव पर पड़ा मवाद ही हो, जो हाईड्रोजन-परावसाइड, बोरिक आदि के पानी से आसानी से धुल जाता है। वह विद्यार्थियों का समाज और उनके रहन-सहन को देखकर दंग रह जाता है। वे सिर से पैर तक सुन्दर कपड़ों से ढके रहते हैं। हर एक अपना रोब जाहिर करता है। उनकी सूट, टाइयों तथा और चीजों पर उसकी आँखें अक्सर अटक जाती है। उनके आडम्बर के लिये कितनी ही स्वाभाविक घृणा उसके मन में हो; पर वह उनकी सहायता से इनकार नहीं कर सकता। इसी लिये यदि वह कभी उनकी हँसी की खिलखिलाहट गैलरियों में सुनता है, तो रोगी के पास से उठकर उनकी भर्त्सना करने नहीं जाता। वह बाहर झाँक कर देखना तक नहीं चाहता कि वे क्यों हँस रहे हैं।

पिछली रात्रि मोहन ने पुकारा था, "रमेश ?"

"क्या चाहिए मोहन ?"

"...कुछ नहीं ?"

"तब बात क्या थी ?"

"तुझे यहाँ अच्छा नहीं लग रहा होगा।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है।"

"और अब तुझे डर नहीं लगता ?"

"मुझे ?"

"तू तो पहले बहुत डरा करता था।"

"आज अपने जीवन का मूल्य विसार चुका हूँ।"

"झूठ है यह बात।"

"तो···"

"जाने दे, वह 'फारमूला' आखिर मैंने निकाल लिया है। मेरा ख्याल है कि गलत नहीं निकलेगा।"

"कौन सा ?"

"अरे वही गुलाबी-रंग का। हमारे आगे कितना विचित्र प्रश्न है ? इन रंगों तक के लिये हम और देशों का मुँह ताका करते हैं। लाखों की विदेशी चूड़ियों व और ऐसी चीजों की खपत हमारे यहाँ है, जिनको हम यहाँ बना सकते हैं। यह तो सब जानते हैं कि देवदार के कच्चे फलों से काफी प्रति-सैकड़ा अच्छी-ब्ल्यू रोशनाई निकल सकती है; किन्तु उद्योग कौन करे।"

"चुप रह मोहन। अधिक बातें करने की तुझे मनाही है। अरे, तेरी तो साँस फूलने लगी! फिर उस 'फारमूला' को देख लूँगा। इस वक्त तू सो जा।"

लेकिन मोहन कब माना था। रमेश ने देखा कि उसका चेहरा लाल पड़ रहा है। बुखार अभी तेज था। इस तरह कब-कब अनर्गल मोहन नहीं बका करता था। बुखार जब बहुत चढ़ जाता है, वह बेहोश हो जाता है। अब यह बात दिनचर्या में शामिल हो गई है।

—तो मोहन उठ बैठा और सिरहाने के नीचे से कागज का टुकड़ा उठा कर तेजी से बोला, "मैं मरूँगा नहीं रमेश। जिस आदमी को जीवन में ठोकरें खाने के बाद उम्मेद बनी रहती है, वह साधारण धक्कों से कभी चूर नहीं होता है। अब यह मेरी सफलता की शुरूआत है। तेरी घबराहट व्यर्थ साबित होगी

तू बाधा न दे। कठिनाई को जीवन-प्रतीक मान कर चलने में हमेशा सहूलियत ही होती है।"

मोहन का हाथ काँप रहा था। तेज ज्वर के सारे लक्षण उसके शरीर पर मौजूद थे—धँसी गड्डठे में बैठी आँखें, पीली चमड़ी पड़ा चेहरा और कंकाल तक सीमित शरीर। यह सब होनहार था। अन्यथा बीमारी जीवन के कटु अनुभवों से कदापि बुरी नहीं। रमेश ने उस कागज के टुकड़े को लेकर, मोहन को उबार लिया। अब वह उत्तेजित मोहन थक कर आँखें मूँदे लेट गया था।

तो यह जीवन है?

अपने परिवार से बाहर समाज मिलता है, और—और आगे एक बड़ी फैली हुई दुनिया है। व्यक्ति मकान से बाहर गली पार करता है। गली से बाहर चौड़ी सड़कें हैं। वह जब आगे बढ़ जाता है, तो कभी-कभी गली के आसपास अथवा सड़क के किनारे की कई बातें स्मृति में उभर आतीं हैं। उनमें अनुभूति और पीड़ा तो होती ही है; पर कभी-कभी जीवन के भीतर वे पुरानी घटनायें अड़चन बन जाने पर तुल जाती हैं। और यह आदमी है मजबूर—वह ऐसी बातों से कितना ही हट कर रहना चाहे; पर उन में वह अपने को लिपटा ही पाता है।

जब एक दिन रमेश और मोहन ने कभी गाँव से बाहर शहरी स्कूल में प्रवेश किया था गाँव और शहर की तुलना करते-करते वह थक गये थे। वह एक-दूसरे के बहुत निकट थे। आप ही समझौता हुआ। तब एक दिन चुपके से विश्वविद्यालय की भारी परीक्षाओं से बरी हो गये। उस एम० एस-सी० की बड़ी डिगरी को लेकर, उनको कोई खास लाभ नहीं हुआ। देश गरीब था। विज्ञान की ओर सब की अपनी उदासीनता थी। साधारण प्रयोगों से सोना-चाँदी जिस तरह बन जाता था, वह केवल इम्तहान पास करने का जरिया था, उसके बाद उसका कुछ मूल्य नहीं रह गया। और पैसे पर टिकी दुनिया के आगे उनको अपनी 'डिगरी' के बोझे के साथ बार-बार झुक जाना पड़ता था। उनका अपने में जो आत्म-सम्मान था, उसका खजाना निपटता चला जा रहा था। सुन्दर अक्षरों में कागज पर छपी वह 'डिगरी' रोटी की समस्या हल नहीं

कर सकी थी। तब अपनी अज्ञानता पर उनको बड़ी हँसी आई। साधारण मजदूर से ऊपर अपने को गिन लेनेवाला घमंड काफूर हुआ और दुनिया की तह खोल। उसे देखने वाले ज्ञान को पाकर वे एक गुजारे लायक नौकरी करने लग गए।

वह एक रंग बनाने का कारखाना था। दोनों फुरसत पाकर रंगों का अन्वेषण करते थे। सोचते कि विदेशी प्रतियोगिता ने सब कुछ ढक लिया है। देश गरीब है। उसके पास जो थोड़ा पैसा है, वह बाहर अन्य देश वाले लुभावनी चीजों के लुभाव में खींच लेते हैं। इस मौजूदा हालत में व्यक्ति लाचार खड़ा का खड़ा रह जाता है—उसकी वह विवशता मौत से बुरी नहीं। तब वे किसी तरह रोजाना जीवन में चलने लगे। नौकरी का आश्रय पाकर जीवन में कुछ स्थिरता आने लगी। सावधानी से सब व्यवहार बरतना दोनों ने सीख लिया था। लेकिन यह मोहन तो बीमार पड़ गया। रमेश की सारी उम्मीदें उसे धोखा देती जाती हैं। क्या मोहन को आखिर इस तरह मरना ही लिखा था? यही था आखिरी नतीजा, तो उसने इतनी पीड़ा जीवन भर क्यों बटोरी? अब यह मौत चन्द साल और इन्तजार क्यों नहीं करना चाहती कि मोहन कुछ सुलझ जाता! रमेश बातों की कितनी ही काट-छाँट कर डाले, कुछ मतलब हासिल नहीं होता था। यह अस्पताल का जीवन किसी पैंठ से कम नहीं था? यहाँ तक की मरीजों के साथ कालेज के विद्यार्थी खिलवाड़ किया करते थे।

वह लड़के फुसफुस कर कहते—वह गैंगरीन का आपरेशन यदि कुछ देर में होता, तो न जाने आदमी की क्या हालत हो जाती।

तभी दूसरा टोकता—मैं अब जाकर बरी हुआ। उस डिपथीरिया के मरीज को तो मरना ही था, जल्द बला टल गई है।

हाउस-सर्जन आकर सुनाता—आज सिर्फ चार मरीज मरे हैं। टी॰ बी॰ वाला वह लड़का भुवाली भेज दिया गया है। बड़ी मुश्किल से पाँच 'बेड' खाली हुए हैं।

रमेश चुपचाप सुनता रहता था। यह आदमी तो मरने ही को पैदा हुआ है, फिर अफसोस का सवाल क्यों उठता है। वह दार्शनिक बन जाता, तो उचित

होता। तब वह मोहन की मौत पर पैनी दृष्टि से विचार करता है। क्या उसकी जरूरत नहीं है ? क्या मोहन को जीवित रहना ही चाहिये। गुदड़ी बाजार में जैसे कभी असम्भव वस्तु पहुँच जाती है; उसी तरह यह मोहन मौत के भारी पलड़े में है। रमेश जैसे कि बेकार सब कुछ सोचना ही सीखा हो।

उस रमेश ने अब अपने को पकड़ लिया। एक झरोखे से जैसे कि दुनिया को देखना उसे पसन्द नहीं। वह अस्पताल से दूर अपने कमरे में बैठा हुआ है। वहाँ ऐसिड-अलकली की बोतलें हैं, कुछ और चीज है। वह प्रयोग यदि करे—तो तथ्य से परे की बात नहीं है। 'फारमूला' सही है। उसने लिखा, तोल कर साधारण तौर पर एक रंग में परिणित हो सकता है। लेकिन यह भेद और कोई नहीं जानता। इस साधारण कागज के टुकड़े पर मोहन ने जो कुछ लिखा, उसके लिए एक अरसे तक उस ने न जाने कितनीं मेहनत की होगी। इस लम्बी बीमारी में वह उसे नहीं भूला है। वहाँ यही रंग की बात जगह बनाए रही। वह अंत में सफल हो गया है। कल मोहन एक सफल वैज्ञानिक घोषित होगा। इसमें आनाकानी का कोई तकाजा नहीं है। भारी उत्साह के साथ मोहन रोग से मुक्त होगा। अब उसके जीवन की एक भारी ख्वाहिश पूरी हो गयी। जो एक ख्याल था, वह आज एक सत्य है। उसके लिये दुनिया अजनबी नहीं रहेगी। अब उसका व्यक्तित्व ऊपर उठ जावेगा।

तो वह मोहन जीवित रहेगा। मजदूर की साधारण श्रेणी से ऊपर उसका रुतबा हो जायगा। कल वह चाहे उस 'फातमूला' को बेच कर अमीर की तरह रह सकता है। जिस पैसे को उसने जीवन भर हाथ का मैल माना है, वही पाकर उसे स्वार्थ घेर लेगा। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है। यह तो अवसर पर निर्भर रहता है। उसका बँगला होगा, मोटर होगी और नगर की सुन्दर प्रतिष्ठित परिवार की लड़की से वह विवाह करेगा···। आदमी हैसियत कब नहीं चाहता ? क्या वह स्वार्थ के बिना एक कदम चल सकता है ? जिस मौत का सन्देह रमेश के मन में बार-बार उठ रहा था, वह अब भय पैदा नहीं करता। मौत के ख्याल को वह भूलता जा रहा है लेकिन········?

रमेश और मोहन की वह कोठरी! वे चार रुपया किराया देते हैं।

गली में धूल उड़ती है। उनको तो जीवन किसी तरह व्यतीत करना है। थोड़ी जगह में।दोनों बसर कर लेते हैं। मजदूरी के बहुत कम पैसे मिलते हैं, उससे उनका निर्वाह तक नहीं हो पाता। अक्सर रमेश सिविल-लान्इस में घूमा है। वहाँ उसने स्वस्थ परिवार देखे हैं। उनके बँगलों के चारों ओर बाग है। हरी-हरी बेलें खंभों पर लटकी रहती है। उस हरियाली को दिल में बटोर कर बार-बार वह घर लौटा करता था। उनको देख कर उसे ईर्षा ने कब नहीं घेरा है। वह अपने में भारी विद्रोह जमा करता रहा है। जब वह हार जाता; उदासीनता घेर लेती। अपने उस जीवन के प्रति कितने ही धिक्कारने के अवसर वह पा जाता है। उसके अपने अरमान और उम्मीदें है। उनको कभी उसने नहीं बिसारा है। कभी-कभी उसे उन पूँजीपतियों से भारी घृणा होती, जो उस तरह रह कर मजदूरों को भूल जाते हैं। वह फिर उस वर्ग में खड़े हो सकने का सपना अचेत अवस्था में देखता रहा है। हृदय के विद्रोह करने पर उस सुख की आशा उसे छोड़ नहीं सकी। वह एक स्वस्थ परिवार में पड़ा रहना चाहता है। अपने जीवन विकार को हटा, वह सुख ही मान लेता। अपने को धिक्कारता कि उसे जीवन में कोई ठीक अवसर नहीं मिला। अन्यथा उसकी यह हालत न होती। उपाय कब उसे कोई मिला है?

मोहन जब बीमार पड़ा, रमेश ने चुपचाप उसकी हालत देखी! एक दिन ठंड लगी, बुखार आया, फिर पड़ोस के डाक्टर की खुशामद उसने की और सुना कि निमानिया हो गया है। वह कई बार उस बड़े सरकारी अस्पताल के निकट गया। मन मार कर लौट आया। 'बेड' खाली नहीं था। वह यदि गिड़गिड़ा कर कुछ निवेदन करता, तो उसके प्रति अनुग्रह दिखाने की फिक्र किसी को नहीं होती। अस्पताल का अपना जीवन है, जिसमें इन छोटी बातों का कोई महत्व नहीं। वह खीज उठता, पर झगड़ा किससे करता! फिर अहसान पर ही दुनिया कब से खड़ी हुई है। आखिर मोहन अस्पताल में भरती हो ही गया। इस रमेश ने अपने उस दोस्त को संभाला। हर तरह अपने जीवन में उसे खड़े रहने की जगह दी। उसके प्रति अपना कर्तव्य वह निभा रहा था। अपनी खाली आँखों से उसने उस अस्पताल के वातावरण को खूब समझा।

वह जान गया है कि आदमी बहुत कच्चा है। उसको समझ पाना आसान काम नहीं। हर एक पहलू के साथ वह अस्पताल की बातों को भाँपा करता है। वहाँ शिक्षा पाने को आए विद्यार्थियों से बातें करता, उनकी बातों में एक मजाक का पुट सुन अचरज में रह जाता। वह जान गया कि यह मोहन केवल एक मनुष्य ही है। रोज आदमी मरता है फिर उसकी अधिक चर्चा बाकी नहीं बचती। वह जैसे कि खो जाने के बाद, अस्तित्व के भीतर नहीं रह जाता।

तो इस मोहन का जीवन अब एक जरूरत बन गया है। उसकी उम्मीदों पर खड़ा व्यक्तित्व अब दुनिया की आँखों से उठ जायेगा। माना वह मोहन मर गया, तब उस आविष्कार का क्या होगा? मोहन को तो कुछ लाभ नहीं। न रमेश ही उसको अपना सकता है। मौत की आखिरी मंजिल को तय करने वाले आदमी के लिए यह प्रतीक्षा व्यर्थ है। मोहन कदापि जीवित नहीं रहेगा। उस 'फारमूले' का उपयोग उसके लिए कुछ नहीं है। रमेश उसे अपना साबित करके जीवन में आगे बढ़ सकता है। मोहन ने कब उसकी बातों पर विश्वास नहीं किया? वह आज उसके सहारे है। उसके सारे अहसानों का अनुगृहीत है। इसके बाद रमेश को एक प्रतिष्ठा मिलेगी। वह देश के श्रेष्ठ वैज्ञानिकों में माना जायेगा। विश्वविद्यालय उसे मान-पत्र देंगे। समाज उसका आदर करेगा। तब उसे निम्न-भावना बाधक न सतायेगी। उसे अपनी ख्वाहिशों को रोज मिटाना नहीं पड़ेगा। वह इस बड़े ढाँचे में अपना रास्ता ढूँढ लेगा। इसमें वहाँ कहीं कोई अड़चन नहीं है।

तब रमेश ने एक बार उन गुलाबी चीरों को उठा लिया। गौर से उस रंग को देखता रहा! कागज का टुकड़ा उठाया। मोहन के छोटे-छोटे साफ-साफ लिखे अक्षरों पर आँखें अटकीं। वह उन अक्षरों को मिटा सकता है। अविश्वास का भारी सहारा उसके मन को दबा रहा था। उसके भीतर शैतान ने एकाएक मोहन का सारा व्यक्तित्व मिटा दिया। वह अपने में ठीक-ठीक क्या विचार करता। मन में फिर कोई उलझन बाकी नहीं रही। उसने वह 'फारमुला' साफ-साफ अपनी पाकेट-बुक पर उतारा। तीन-चार बार दोहराया।

फैक्टरी से बाहर निकला। चुपचाप चला गया। मन में अब कहीं कोई उलझन बाकी नहीं थी! अपना भविष्य वह बार-बार गढ़ता जाता था। साफ-साफ वह उसके समीप पहुँचने लगा।

फिर वही अस्पताल की इमारत। वही मरीज। वही नर्सें। चुपचाप रमेश आगे बढ़ा। वह दृढ़ था। उसे जीवन से कहीं घृणा नहीं थी। अपने प्रति उठती, झुँझलाहट को वह करीब-करीब भूल चुका था। कभी-कभी एक कमी हृदय को छू लेती। अपनी निगाह में वह बार-बार अपने को गिरा हुआ पाता; किन्तु उत्साह की ओट पाकर फिर सावधान हो जाता था।

मोहन आँखें मूँदे लेटा हुआ था। आहट पा जाग उठा, आँखें खोलीं। रमेश धीरे से बोला, "वह फारमुला गलत निकला।"

"गलत!" एकाएक मोहन का सारा बदन सिहर उठा।

रमेश उस पीड़ा को भला कैसे सह सकता? उसकी आदमियत पिघल गई। वह और पास आया, कहा, "नहीं मोहन, वह मैंने झूठ कहा था। तेरा आविष्कार भला कैसे गलत होता?"

लेकिन मोहन चुपचाप लेटा था।

रमेश और निकट पहुँचा। उसने मोहन का हाथ अपने हाथ में लिया। उसकी स्थिर आँखों में अपनी आँखें डुबो दीं। सावधान करते हुए समझाया, "अब तू अच्छा हो जा मोहन.........।"

किन्तु वह सपनेवाली दुनिया की तरह एक रोजगार सा था। मोहन की आँखें स्थिर थीं, स्थिर रहीं। जैसे कि वह सिर्फ एक खिलौना था, जिससे अब रमेश खिलवाड़ रचने के अलावा कुछ नहीं कर सकता है।

नीनी

"सुरेश बाबू आ गये।" यह नौकरानी के मुँह से सुन स्वामी के सिरहाने से उठकर नीनी बाहर चली गई। दरवाजे पर वह ठिठकी, देखा कि अपना हैण्डबैग एक ओर मेज पर धरे, हाथ में स्टाथस्कोप लिये आरामकुर्सी पर

सुरेश बैठा हुआ है। वह जरा उलझी, अटकी, फिर आगे बढ़कर बोली, "आप आ गये।"

सुरेश ने सावधानी से 'हाँ', कहा कुछ देर चुप रह आखिर बोला, "पहले तो विश्वास ही न हुआ कि पत्र आपका है। आपकी पाँच साल पुरानी लिखावट याद कर लेने में काफी वक्त लगा और पहचान कर आना पड़ा।"

दस साल पुरानी 'आप' पाकर नीनी स्तब्ध रह गई। पाँच साल पुराने 'तुम' का कहीं पता नहीं था। कुछ सोचता हुआ सुरेश बोला, "मिस्टर माथुर कहाँ हैं ?"

नीनी चैतन्य हुई। कहा, "अन्दर हैं, चलो।"

सुरेश ने स्टाथस्कोप उठाया और नीनी के साथ हो लिया। कमरे में जाकर देखा कि योगेश बाबू पलंग पर लेटे हुए हैं। उनको बेकार उठने की चेष्टा करते देख टोका, "आप लेटे रहिये आपकी तबियत कैसी है ?"

नीनी दरवाजे की ओट में खड़ी थी। सुरेश अपने डाक्टरी कर्तव्य के साथ सब कुछ पूछ रहा था। वह समझ गया कि कस्बे के डाक्टरों के ठीक परिचर्या न करने के कारण रोग बढ़ गया है।

नौकर आकर बोला, "चाय तैयार है।"

नीनी दरवाजे से आगे बढ़ी, पास आकर बोली, "रास्ता बहुत खराब है, थक गये होगे। पाँच मील तो बैलगाड़ी का ही सफर है, कुछ नाश्ता कर लो।"

बाथरूम से निपट, सुरेश चाय पीने लग गया। नीनी चुपचाप एक ओर खड़ी थी। नीनी सुरेश और डाक्टर सुरेश में भारी अन्तर पाया। जैसे कि वह जरूरत से ज्यादा बातें करना भूल गया था। सुरेश चाय पी चुका था कि नीनी ने 'प्रिसक्रिपशन' की फाइल और टेम्परेचर का चार्ट लाकर दिया। सावधानी से सब कुछ देख कर सुरेश बोला, "डर की कोई बात नहीं है। आप तो बेकार घबरा गई थीं।"

'आप' फिर नीनी को डस गया। वह कुछ नहीं बोली, बिलकुल चुप रह गई।

"किस डाक्टर का इलाज है ?"

"बोस का।"

कुछ सोच कर सुरेश बोला, "यहाँ कोई अच्छा दवाखाना भी है?"

"काम-चलाऊ एक दूकान है।"

"एक कागज पर कुछ लिख कर वह बोला, "यह अभी मँगवा लीजिये। कुछ दवा बाहर से मँगवानी पड़ेंगी।"

नीनी बाहर चली गई। जरा सुरेश ने नीनी पर सोचा। वह सुलझी और गम्भीर लगी। व्यवहार के भीतर है। ठीक और सही बात में मतलब नहीं रखती है। पिछले पाँच साल तक जिससे कोई सम्बन्ध नहीं रहा, वह पति की बीमारी की वजह से उसे बुलाने को मजबूर हो गई थी।

'भाभी! भाभी!!' पुकारती एक युवती कमरे में आई और डरकर भाग गई। सुरेश चुपचाप फाइल देखने लगा।

नीनी कमरे में आकर बोली, "घूमने जाओगे। यहाँ तो पूरा देहात है, मन शायद ही लगे; लाचारी है। प्रभा को तो नहीं जानते हो?"

"प्रभा?"

"ठीक, लो बुलाये लेती हूँ। प्रभा! प्रभा!!"

वही युवती भीतर आई। नीनी बोली, "मेरी नन्द है! अकेले जी नहीं लगा, इसे बुला लिया शहर का जीव देहात से घबराता है। यही इसका भी हाल है।"

दो सप्ताह गुजरे। योगेश बाबू की हालत बिगड़ती जा रही थी। नीनी उनमनी और घबराई रहती थी। प्रभा चन्द दिनों में ही सुरेश को पहचान गई। भाई की बीमारी के कारण उसे अपने को सुरेश के आगे परदे से ढकना उचित नहीं लगा। बड़ी-बड़ी रात तक वह और सुरेश, रोग और रोगी की व्यवस्था पर विचार करते रहते थे। अपनी अस्तव्यस्तता के आगे नीनी को किसी का खयाल नहीं था। स्वामी के आगे वह दुनिया को भूल चुकी थी। प्रभा के ढेर से सवाल रहते थे। डाक्टर उठा या नहीं, आज देर क्यों हुई, चाय ठण्डी तो नहीं है, साँझ को खाना कम क्यों खाया है। साथ ही जबरदस्ती वह साँझ को उसे घूमने साथ ले जाती थी। बस्ती के बाहर तीन-

चार बँगलों की उनकी कालोनी थी। पास ही अन्वेषण-विभाग की बड़ी-इमारत थी। इधर-उधर बड़े हरे-हरे फैले हुए खेत थे।

सुरेश को मरीज के बाद प्रभा की बातों में खूब आनन्द आता था। रोगी के साथ जो सम्बन्ध था, उसी में वह व्यवस्त रहता! कई-कई बार टेम्परेचर और पल्स देखता तथा दवा के नुस्खे बदलता। जब थक जाता, प्रभा आती थी। कई बार वह प्रभा को गलतियों पर झिड़क दिया करता था। रोज ही प्रभा अपना सारा भार निभाती। अपनी कसमें दे-देकर रोग का सही हाल पूछा करती थी।

तीसरा सप्ताह कटने को था कि एक दिन सुरेश ने गोल कमरे में प्रभा और नीनी को बुला कर कहा, "अब कोई डर नहीं है। मुझे जाने की इजाजत मिल जानी चाहिये।"

प्रभा मुरझा गई। नीनी ने कुछ दिन और रुक जाने को कहा। सुरेश कुछ कह नहीं सका।

एक दिन सुबह को सुरेश अकेले ही बाहर घूमने को निकल गया था। प्रभा और नीनी सुरेश पर बातें कर रही थीं। प्रभा बोली, "भाभी, डाक्टर अजीब आदमी हैं। एक लड़की से उसने प्रेम किया था......"

"प्रभा?"

"सच बात है।"

नीनी दवा देने के बहाने बाहर चली गई।

उस रात्रि सब सोये थे, दो का घण्टा बजा। नीनी सुरेश के कमरे का दरवाजा खोल भीतर आ बोली, "डाक्टर बाबू।"

आँखें मलता सुरेश उठ कर बोला, "क्या है?"

"प्रभा से अपनी सारी बातें करने का आपको क्या हक था।"

"नीनी।"

अपना नाम पाकर नीनी का सारा गुस्सा पिघल गया।

"तुमने वह पत्र क्यों लिखा था! उसे अपने मरीजों को छोड़ कर

आना पड़ा इस तरह घबरा जाना अनुचित है। गृहस्थी के भीतर तो यह हमेशा ही लगा रहता है।"

"ओ भाभी!" पुकारती प्रभा कमरे में दाखिल हुई। आकर बोली, "भैया की तबियत फिर खराब हो गई है।"

सुरेश ने चुपचाप पाँव में जूता डाला और वहाँ पहुँचा। योगेश बाबू अनर्गल बक रहे थे। टेम्परेचर बढ़ गया था। सुरेश ने 'इन्जक्शन' दिया और कहा, "डर की कोई बात नहीं है। बेकार दिन को तुम लोग ताश खेलते रहे हो; आराम चाहिये।"

फिर बड़ी देर में सुरेश को नींद आई। सुबह उसकी नींद टूटी, देखा कि नौकरानी चाय लेकर आई थी। प्रभा आज नहीं आई। उसने पूछा, "प्रभा कहाँ है?"

"बीबी?"

"हाँ।"

"वह तो तड़के ही घूमने चली गई है।"

उसे चाय पीने का उत्साह नहीं रहा। चुपचाप कुछ सोच रहा था कि नीनी आकर बोली, "चाय ठण्डी हो रही है।"

चाय पीता हुआ सुरेश बोला, "प्रभा की नाखुशी पर सोच रहा हूँ।"

"वह कहाँ चली गई?"

"अकेले घूमने।"

नीनी चुप रही।

"अब मुझे जाना ही चाहिए।"

"हमें यह देहात अच्छा नहीं लगता, लेकिन क्या करें?"

"ठीक ही है।"

"कमाई का क्या हाल है?"

"पैसा मिल जाता है।"

"कब तक अकेले ही रहने का इरादा है?"

"नीनी!"

"ठीक मुझे पूछने का कोई अधिकार नहीं है, न।"

"नीनी।"

"वह हक माँगे मिल तो नहीं सकता।"

"फिर तुमने मुझे ही क्यों बुलाया था? इतने डाक्टर दुनियाँ में हैं।"

"मेरा अपना विश्वास था कि तुम आओगे। हमारी भले ही लड़ाई हुई थी, मन में मैल जमा करना नहीं सीखे थे।"

"मैं यह सब व्यवहार नहीं मानता।"

"तब एक दिन बहती गंगा में कूद कर मुझे क्यों बचाया था।"

"कर्तव्य था वह। अज्ञेय सब की रक्षा सीखा था।"

"और आज!"

"मौत को देखता हूँ, मरीज को भी; स्वार्थ को पहचानता हूँ और......"

"क्या डाक्टर?"

"एक दिन चाहना उठी थी कि तुम्हारे स्वामी की जिम्मेदारी लेना गलत बात है। एक छोटे इन्जक्शन से उनको निपटा सकता था। तब क्या होता?"

"डाक्टर!' दोनों की चार आँखें हुईं। नीनी सिहर उठी। मन्थर गति से बाहर चली गई।

नौकर ने आकर एक लिफाफा दिया। सुरेश ने पढ़ा "गैरजिम्मेवार तुम हो आदमी की कमजोरी के साथ अपने कर्तव्य को तुम भूल जाते हो। तुम्हारा विश्वास मन से उठ गया। ख्याल गलत निकला। तुम भी सिर्फ पुरुष हो—प्रभा।"

दोपहर को नीनी ने प्रभा से पूछा, "तू डाक्टर से प्रेम करती है?"

"झूठ है भाभी।"

"झूठ।"

"भाभी!"

"प्रभा"

"झूठ है, झूठ है!!"

"आज सुबह डाक्टर ने चाय नहीं पी। तेरा इन्तजार करता रहा।"

"तब तुम जाकर क्यों नहीं पिला आईं भाभी।"

"प्रभा।"

"भाभी क्या तुम अपना कर्तव्य भूल गईं ? एक दिन तुमने जरा अव्यवहार पर इसी डाक्टर को धमकी दी थी। उसको अपने घर बुलाने का बहाना पाकर तुम सब कुछ भूल गईं। असमर्थ तुम हो।" कह कर प्रभा चुपके बाहर खिसक गई।

संध्या को प्रभा की एक चिट सुरेश को मिली। लिखा था, "रात को एक बजे बड़े शहतूत के पेड़ के पास मिलना। एक जरूरी बात कहनी है।"

खा-पीकर सब लोग बैठे थे। प्रभा बोली, "भैया, मैं तो कल जाने की सोच रही हूँ।"

"देहात से ऊब गईं ?" योगेश बाबू बोले।

"अपनी किताबें लाना भूल गई हूँ।"

"हाथ के हाथ तो इन्तजाम हो नहीं सकेगा ?"

रात्रि को अपने कमरे में सुरेश बैठा हुआ था। नीनी ने आकर सुरेश को सौ-सौके चार नोट देते हुए कहा, "उनके कहने से देने आई हूँ।"

"नीनी मैं पेशेवाला डाक्टर बनकर नहीं आया था।"

"तुम अपनी बात के पूरे निकले। पाँच साल में एक बार नहीं आये। खत तक नहीं डाला।"

"वक्त कहाँ था। फिर डर था कि कहीं तुम !"

"डाक्टर, लाचार न करो।"

"समझने में तुमने गलती की।

"नहीं, और यह तो तुम मानोगे कि तुम्हारी ज्यादती थी। मेरी व्यक्तिगत बातों को तुम क्यों जान लेना चाहते थे ? क्यों तुमने वह लम्बी चिट्ठी लिखी थी ?"

"लेकिन तुम्हारी धमकी।"

"वह ठीक बात थी।"

"नीनी।

''हाँ; पिता जी 'पिस्टल घर छोड़ जाते, तुम्हारा खून कर डालती।''

बड़ी रात गुज़र चुकी थी नीनी चली गई। सुरेश ने ओवरकोट पहन लिया और बाहर निकला था कि देखा; प्रभा तेजी से भीतर चली गई। उसने पुकारा,—'प्रभा !'

प्रभा बढ़कर चली ही गई। वह अवाक् खड़ा ही रह गया।

दूसरे दिन सुबह उसकी नींद टूटी, देखा कि प्रभा खड़ी थी। वह अचकचा कर बोला, 'प्रभा।'

'डॉक्टर बाबू, माँफी माँगने आई हूँ।'

नीनी कमरे में आई, प्रभा बाहर चली गई। नीनी बोली, 'कल शाम को जाओगे ?'

'हाँ।'

'फिर कब आओगे ?'

'देखो।'

'इन्तजाम करवाये देती हूँ।' कह नीनी चली गई।

अपने कमरे में आकर नीनी ने देखा कि प्रभा एक चिट्ठी उसके बिस्तर में फेंककर भाग गई है। उसने खोलकर पढ़ा, 'भाभी, मैं डाक्टर को प्यार करती हूँ। कल रात इरादा किया था कि उसे पिस्टल से मार डालूँगी; किन्तु असमर्थ रही।'

बाहर आकर नीनी ने पुकारा, 'प्रभा।'

देखा प्रभा गुमसुम खड़ी थी। वह बोली, 'क्या है प्रभा ?'

प्रभा की आँखें लाल थीं।

'तू बीमार है।' कह नीनी ने प्रभा का हाथ अपने हाथ में लिया। देखा, उसे भारी बुखार था सुरेश आया, देखकर बोला, 'निमोनिया हो गया है।'

प्रभा बुखार में बक रही थी, ''भाभी तुम पापिन हो। स्वामी को भूल गईं''''।''

प्रभा सो गई थी। नीनी अपने कमरे में आई। एक चिट्ठी लिखी और सुरेश के हैण्डबेग में रख आई।

आधी रात में पिस्टल की आवाज सुन कर सुरेश उठा, आकर देखा कि नीनी मरी पड़ी थी।

प्रभा आकर बोली, "डॉक्टर, मेरी भाभी को बचा लो।"

"वह मर गई है।" सिर झुकाये सुरेश बोला।

"भाभी मर गई।" प्रभा बेहोश हो गई थी।

कमरे में आकर सुरेश ने हैण्डबेग खोला। चिट्ठी पढ़ी—

"सुरेश,

तुमको, पति को, प्रभा को धोखा देने के बाद एक दिन मैंने अपने को धोखा दे दिया।

तेरी ही"

सुरेश ने चुपचाप अपना हैण्डबेग उठाया। स्टाथस्कोप लिया और बाहर अन्धकार में रास्ता टटोलता हुआ आगे बढ़ गया।

एक दृष्टि

मुझे गार्ड की हरी-हरी रोशनी और इंजिन की सीटी से अधिक उतावला बनाया उन दो काली-काली आँखों ने। देहरा-एक्सप्रेस की बात है। कुछ दिन हुए बरेली स्टेशन से रात के ग्यारह बजकर पैतालीस मिनट पर मित्रों ने मुझे विदा किया। कुली पैसे ले गया और गाड़ी कम्पायमान होकर चल पड़ी। इंटर क्लास में तीन बर्थ थे। एक पर अधेड़ मझले कद के बाबू सोये थे। दूसरे पर एक तीन-चार साल का बालक और तीसरे पर वे ही 'दो काली-काली आँखें।' तीनों बर्थ घिरे थे। मुरादाबाद तो उतरना ही था, सिर्फ दो घंटे का सफर। सोचा—खड़े-खड़े ही समय काटा जाय; किन्तु पावों ने जवाब दे दिया। अन्त में कुछ सोच-विचार कर पहले बर्थ के पायताने बैठ, सिनेमा-पत्रिका पढ़ने लगा।

सब सोते थे। रात्रि की निस्तब्धता। एकांतता का भाव। मध्य रात्रि और युवक हृदय—और सामने 'दो काली-काली आँखें' सोई थीं। पढ़ने में मन

न लगा। नजर उधर ही लगी रही। एक, दो, तीन, चार, न जाने कितनी बार उनको देखा। धीरे-धीरे उन काली-काली आँखों का सुन्दर मुँह, सुडोल बदन का चित्र हृदय-पट पर अंकित हुआ। मन की तीव्र गति ने उसे सुचारु रूप से सवाँरा और मैं आँखें मूँद उसी चित्र की प्रतिलिपि को मानसिक शक्ति से जाँचने लगा। एक मूक वेदना का भास हुआ, हृदय में एक हूक उठी—यह तो परिचित है! सोचा-विचारा कौन होगी? साथ ही उत्तर मिला—सावधानी से देखो, यह कमला तो नहीं है!

कमला, कमला, और कमला! मैं गुनगुनाया, उसका स्मृति-स्वरूप मेरे पास फोटो है। पॉकेट से डायरी निकाल कमला का फोटो निकाला। यह तो वही है, बिलकुल वही। सन्देह का भाव उठा, मानो किसी ने मुझसे कहा—क्या एक ही रूप-रंग के बहुत से लोग नहीं होते? मुझे याद आई कि मैं कई बार इस प्रकार की गल्तियों के लिए बेवकूफ बना हूँ। मैं घबड़ा उठा। कुछ न सूझा कि हृदय ने आँखों को फटकारा, सूट केस पर लिखे नाम को पढ़ो—सच-झूठ प्रकट हो जायेगा।

'डॉ० एस० प्रसाद सेठ, एम० बी० बी० एस०' सुन्दर छोटे-छोटे अँग्रेजी अक्षरों में लिखा था।

मैं चौंका और उतावला बन अपना हैण्डबेग खोला—पुरानी डायरी निकाली। याददास्त में लिखा था—

'हृदय की सब आशाएँ पूर्ण नहीं होतीं। जीवन में अपूर्ण आशाओं पर रोना बेकार है। जो होनहार था, वही हुआ। वही कमला, जिसे आज तक अपना समझ घमण्ड किया, आज दूसरे की हो गई। यह मेरे लिए जीवन की प्रथम असफलता है। मेरे प्रति अन्याय है और यह सब कुछ सहना पड़ेगा। मि० सेठ मेरे परिचित नहीं। सुना, डॉक्टर हैं, धनवान हैं और आज से कमला के सर्वस्व।

'कमला आज तुझे भूली स्मृतियों के अध्याय में रख लेता हूँ, शायद भविष्य में फिर कभी याद आए।'

वही रूप था, वही रंग और वही अनुपम सौंदर्य ! सुधा की भाँति पवित्र, हिम के समान निष्कलंक और नवकुसुम की भाँति अनिंद्य। वही काव्य, संगीत और सुषमा की एक मनोहर प्रतिमा ! वे ही ओठ, जो बचपन में अबोधता के साथ कई बार चूमे होंगे। उसका वह पुराना अनुपम सौन्दर्य, स्वर्गोपम वचन-माधुरी की याद विलक्षण अंग-विन्यास ! भूली श्रृंगारमयी कल्पना को विकल कर रहा था। वह सुख की नींद सोई थी। अपने इस छोटे परिवार में ही संतुष्ट होगी और मैं वही पुराना युवक, जो समय के साथ-ही-साथ ठुकराया जाकर, नैराश्य की अग्नि में झुलस रहा हूँ ! इस जीवन में जब कभी-कभी दुर्बल भावना हृदय को दबाती ही है। हृदय अशांति-पूर्ण और उच्च आकांक्षाओं से शून्य ! 'क्या इसके लिए मैं दोषी हूँ' उसके शान्त मुख ने चैलेञ्ज दिया।

हो सकता है, हाँ हो...नहीं-नहीं मैं बहक गया, तुम निर्दोष हो— मैं एक साथ ही बड़बड़ाया।

यह प्रलाप नहीं संगीत-लहरी का आलाप है।

गड़, गड़, गड़, वह गड़गड़ाहट कैसी ? ठीक रेल-पुल पार कर रही है। कितनी बुरी आवाज ! हृदय-तंत्री के तारों में एक बेसुरी झंकार—उथल-पुथल ! वे ही पुरानी बातें। अन्त में एक आह भरा उफान। चाँद खिड़की से झाँककर मेरा उपहास उड़ा रहा है। मानों समझा रहा हो—अब क्यों जल-भुन रहे हो, वह तो तुम्हारी हो नहीं सकती। दूसरे की युवती स्त्री को इस प्रकार निद्रावस्था में ताकना पाप है। तुम बड़े नीच हो—पापी हो।

खूब रही राकेश ! 'चौसठ चूहे खाय बिलैया चली हज करने को !'—क्या वह दिन भूल गये, जब इन्द्र के बहकाये में आकर मदन बसन्त को साथ ले गौतम-आश्रम में प्रवेश किया था। वह तो सत्युग था, सब धर्मात्मा थे ! हमें तो अपने खोये हुए प्रेम को एक बार याद करना भी पापी का नाम कमाना है। चन्द्रदेव, बोलो न, अहिल्या के सर्वस्व-हरण में क्या तुम सहायक न थे ? तुम्हारे सखा के प्रेम में पिपासा थी, तृष्णा थी और मेरे में श्रद्धा विनीति ! क्या मैं दोषी हूँ। बोलो—बोलो चन्द्रदेव चुप क्यों हो ?

अच्छा, हार मान गये ! मेरे सखा बनना चाहते हो। मैं तुम्हारी मित्रता

स्वीकार करता हूँ ; किन्तु इसमें वह रस, वह भाव नहीं, जो सुरपुराधीश में थे। बिलक, काँच खिड़की के गर्भ में समा गया और मैं अपने सखा से उपर्युक्त लाभ उठा सिर बाहर निकाल देखने लगा। चन्द्रमा का शीतल प्रकाश ऐसा जान पड़ता था, मानों किसी मधुर राग में मस्त हो रहा हो। प्रकृति की अनुपम छटा, इस अलौकिक राग के लय में नृत्य करते हुए मानो अलंकार थे। पूर्ण-निस्तब्धता थी। शान्ति का पूरा राज्य था ; परन्तु वाह्य शान्ति आन्तरिक दाह नहीं मिटा सकती।

सर, सर, सर, सर हवा के वासना-तृप्त मधुर झोंके। सामने की चीजें सरपट भागी जा रही थीं। उन पर विचारने का समय कहाँ ? वे सब तो अब स्मृति-अध्याय में सम्मिलित हो गईं। हॉल्ट होने पर ही कुछ सोचने-विचारने का समय मिलेगा। उन चन्द मिनटों को सुख की छाया में हम भूल जावेंगे और फिर वही पुराना राग, वही पुरानी याद, सब-का-सब व्यर्थ, बेकार!

बाहर कब तक देखता। वहाँ क्या था। मेरा सब कुछ, आज का नहीं बचपन से संभाला हुआ, एकत्रित की हुई निधि, जो मुझे धोखा दे गई, सामने भीतर थी—वे ही दो काली-काली आँखें—कमला। बचपन में वह रानी बिटिया कहलाई, फिर मैंने उसे भावी पत्नी-रूप में देखा और अब आज वह कहलाती है मिसेज सेठ। खूब रही, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न नाम। मैं पागल नहीं, न जाने कितनी दफे उसकी माता इस पवित्र सम्बन्ध का जिक्र मेरी माताजी से कर चुकी थी। हृदय में एक आन्तरिक लालसा थी कि कमला से विवाह कर जीवन की गाँठ जोड़, एक सुखद कुटुम्ब बनाऊँगा। फिर वहाँ प्रेम के ज्वार-भाटे में दोनों बहेंगे। एक आदर्श जीवन होगा। यह लालसा कितनी मधुर कितनी सुन्दर, कितनी कोमल और कितनी मधुमयी थी! काश..., पर सब-का-सब झूठा निकला। मैं ठगा गया, उस समय मादकता के लोभ में पड़, जिसके लिए अपनी सारी चैतन्यता खो चुका था, उसकी दारुण स्मृति आज मुझे कितना बेचैन बना रही है। इसे मेरे सिवाय कौन जान सकता है!

कमला मेरे बचपन की संगिनी—फिर मैं और वह साथ ही साथ बैलगाड़ी

में पाठशाला जाया करते थे। उसे अपना समझ, मैं पैसे बचा-बचा कुछ-न-कुछ लाया करता था। वह पाठ का पढ़ना, भूत प्रेतों की कहानी—क्या सब स्वप्न था? क्या युवकत्व के आरम्भ होते ही बचपन दूर-ही-दूर नहीं भागता। आशा-निराशा के अध्यायों की रचना क्या जीवन यात्रा में नहीं होती? सब कुछ तो वही पुराना है, वही संसार, वही सूर्य्य का उदय और अस्त होना। वही मध्याह्न काल, फिर संध्या, अंत में रात्रि। क्या रात्रि नैराश्य की ओर घसीटती है? आज यदि 'हाँ' कह दें, तो भी इसमें सन्देह है। इसी चाँदनी रात्रि में हमने न जाने क्या-क्या खेल खेले होंगे। काश, वह सब आज नहीं आज तो बाकी रही वही एक निराशा, एक आह और एक वेदनापूर्ण सिसकार। आज कमला अपनी नहीं, वह अब दूसरे की है। सुना, उसके विवाह में खूब धूम-धाम रही, नाच-गाने हुआ और न जाने क्या-क्या हुआ; मैंने सब कुछ सुना, उसको ध्यान देकर कंठस्थ किया। वह हमारे एकाकी नाट्य का अध्याय ही तो था।

वह नाट्य, बचपन का मधुर झोंका न था, यौवन की आँधी थी। हृदय में सौन्दर्य की भावना जाग्रत होगई, बुतपरस्ती के नशे में यौवन का तूफान मतवाला हो उठा। मैंनें हृदय टटोल कर देखा तो प्रेमाकुंर फूट चुके थे। प्रेम-प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना ही से उसका पोषण होता है और भावना ही से वह जीवित है। वह भौतिक वस्तु नहीं प्रेम की मधुमय भावनाओं का ससार ही निराला है कमला भी इन सब बातों से अनभिज्ञ न थी। वह, यौवन-उपवन के समीप—अति समीप थी, मैं वहाँ माली था। वह, प्रेम-अभिनय के रगमंच पर आ पहुँची, मैं भो वहाँ किसी ध्येय से पहुँच गया।

दोनों को पूर्ण आशा थी यह सफल मार्ग है; किन्तु अरमान बिखर गये, लालसाएँ लोट-पोट हो गईं और हृदय उद्वेलित हो उठा। मेरे सारे हौसले चूर-चूर हो, न जाने कहाँ बिखर-गये। मेरी सारी आकांक्षाएँ टुकड़े-टुकड़े होकर न जाने किधर उड़ गईं। आज सोन्दर्य को वह अनुपम छटा, लावण्य की वह मनोहर छवि; जिसे देखते ही मेरे कवि हृदय में भावों का स्रोत बहने लगता था, सम्मुख होने पर भी नहीं सी थी।

मैं असहयोगी बना, इसमें मेरा क्या दोष? देश में नई हवा बह रही थी।

नवयुवक हृदय था और कमला की आज्ञा थी। मैं कमला को देशभक्ति की कथा सुनाता और वह अतृप्त श्रोता की भाँति सुनती। उसका हृदय मेरा था, वह मेरी थी, उसकी आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म था। मैंने वही किया और एक दिवस जेल-यात्रा की। यह भी उसी प्रेम की प्रेरणा थी। क्या मैं पवित्र प्रेम का आशय नहीं समझा? पवित्र प्रेम के साम्राज्य में क्या नहीं है? प्रेम ही परमेश्वर है, प्रेम की आज्ञा पालन करना मेरा ध्येय था। इस प्रेम की अवहेलना कौन कर सकता है? कानून ने न्याय किया, एक साल कठिन कारावास। अब ज्ञात हुआ कि प्रेम-पथ उद्यान की भाँति साफ सीधी सड़क नहीं है, काँटेदार झाड़ियों से भरा हुआ जंगली रास्ता है। यहाँ कठिनाइयाँ हैं परीक्षा है और वियोग की दारुण यातना है। यहाँ वास्तविकता का ताण्डव-नृत्य है, कल्पना का सुखद स्वप्न नहीं!

सोचा—कमला के इस प्रथम प्रेम विजय का बीड़ा मैंने पाया। मैंने उसके हृदय के आसन को हिला दिया। दो भिन्न-भिन्न हृदयों को एक माला में गूँथ लिया। जेल की यातनाएँ भूल गया। एक-एक दिन गिन-गिन कर काटा। सारा वर्ष कट गया और मैं फिर कमला के सम्मुख प्रेम-भिक्षा पाने खड़ा था। सोचा था—यह क्या ही मधुर मिलन होगा—वहाँ कमला की आँखों में प्रतीक्षा न थी। उत्सुकता न थी, भय था, विकलता थी, अशान्ति थी। उसने सुनाया, उसका विवाह निश्चित हो गया। वह रोई, बिलबिलाई; पर उसकी सुनता कौन! उसके पिता का फैसला था कि उसका विवाह एक कैदखाने से लौटे युवक से नहीं हो सकता। परवशता से बढ़ कर भी क्या दुनिया में कोई अभिशाप है?

बस, मेरे लिए संसार आनन्द-विहीन, प्रेम-विहीन, उद्देश्य-विहीन हो गया। हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त शंका, एक अनिष्ट चिन्ता से आछन्न हो गया। अब उसमें वह सुधा न थी, वह टूटे हुए तारों का राग था, जिसमें न वह लोच था, न वह जादू था, न वह असर और वह मेरी कोई नहीं थी।

कई रात-दिन कट गये, कई सप्ताह गुजर गये और कई साल चले गये। उन भूली हुई स्मृतियों को टटोलने का समय कहाँ? प्रत्येक दिवस एक-एक

जीवित समस्या थी। कोई-न-कोई चिन्ता सर्वदा घेरे रहती है। संसार में अपना कहने को कोई नहीं। वैवाहिक बन्धन में बँध रहट के बैलों की भाँति चलने का साहस कहाँ। इतने दिवस बीत जाने पर आत्मा कुछ शान्त अवश्य हो गई; किन्तु उसमें एक मीठा-सा दर्द था। एक हूक थी, एक भावना थी, एक गुंजन थी, जो कि अन्दर-ही-अन्दर घुट गई।

सम्मिलन प्रेम को सजग कर देता है। आज उन 'काली-काली आँखों' का सहारा पा विचार-धारा फूट निकली। हृदय के अन्तस्तल में एक बड़ा भारी तूफान उठा, मैं घबड़ा गया और उस नैतिक बल को अपने भीतर लाने की चेष्टा करने लगा जो आज तक मेरा रक्षक और प्रदर्शक का काम करता चला आ रहा था।

मुरादाबाद जक्शन! मुरादाबाद !! मुरादाबाद स्टेशन की पुकार मची। दो घंटे का समय देखते-देखते कट गया। घड़ी की सुई दो की ओर सरपट लगा रही थी, गाड़ी स्थिर हो गई। मैंने कुली को पुकारा, सामान बाहर निकाला। इस शोरगुल में कमला की नींद टूटी, उसकी आँखें खुलीं और उसने मुझे देखा। आँखें चार हुईं, वह मुझे देख हड़बड़ा कर बोल बैठी, "रमेश, तुम यहाँ?........?"

मैं उस समय तक कमरे के बाहर निकल कर प्लेटफॉर्म पर चला गया था।

—: o :—

काँटा

अस्त-व्यस्त बिखरी घटनायें...। आज कभी-कभी निश्चित होकर अपने जीवन के बिखरे चित्रों को टटोलती हूँ। उनमें कुछ न पा दिल परेशान हो उठता है। वे चित्र.....।

जाड़े की एक रात थी। मैं, मिस्टर कौल और उनके एक मित्र होटल में थे। मेज पर खाना लगा था, जो करीब-करीब निपट चुका था। मैंने खाना खाते-खाते देखा कि उनका वह दोस्त मौन था। दिन को जब हम शहर घूमे

थे तभी वह बहुत कम बोलता था। उनका यह अपना शहर है। अपने दोस्त की खातिर मुझे भी अपने व्यवहार और बर्ताव में हिस्सा दे दिया। कई बार आँखें उठाकर मैंने उनकी ओर देखा। एक बार उनकी आँखें पकड़ में आ गईं तो अचकचाहट में उनकी आँखें स्थिर रह गईं। कुछ बोले नहीं। मुझे काफी नशा चढ़ चुका था। मिस्टर कौल खूब पीकर, इतमीनान से होश-हवास खो, गहरी नींद में सो गये थे। मैं बेचैन हो उठी। दुनिया के झगड़ों की वजह से मेरा दिल थक गया था, फिर भी एक विभिन्नता उनके उस दोस्त को लेकर उठी।

दिन में मिस्टर कौल ने परिचय देते हुए कहा था, "इसे जानती है प्रेम ?"

मैं चुप रही। तो वे बोले, "अब की एम० ए० पास किया है और सरकारी वजीफा पाकर बाहर पढ़ने जावेगा।"

मैं न समझ सकी कि इस छोटी उम्र में इतना बड़ा इम्तहान उन्होंने कैसे पास किया। वह व्यक्तित्व अजनबी-सी लगा।

होटल के नौकर ने आकर पूछा, "और कुछ...।"

मैंने उनकी तरफ देखकर पूछा—"कुछ चाहिए ?"

"नहीं।"

"तकल्लुफ का सवाल !"

"आप तो बार-बार लाचार करती हैं।"

"मैं।"

"क्या ?"

"ठीक तो कह रही हूँ मैं।"

वे चुप हो गये, तो मैंने अनुरोध किया, "अच्छा जाने दीजिए। एक 'पेग' और बना दूँ।"

"मुझे ज्यादा पीने की आदत नहीं।"

"तो सीखना पड़ेगा। जहाँ जा रहे हो, वहाँ तो·····।"

मैं आगे नहीं बोली। वे चुप थे। मैंने गिलास में एक 'पेग' बना, सारी मुस्कान को बखेर, उसे उनको सौंप दिया।

उन्होंने गिलास को लेकर मेज पर रख दिया, फिर उठा एक घूँट पी और धीरे-धीरे सब पी चुके तो बोले, "आपका हुक्म...।"

कोई धक्का देकर गिरा देता तो मैं चुप रहती। यह उनका कैसा अहसान था। एक भारी जिम्मेदारी मुझे सौंपना क्या उचित थी। और एक झरोखे से उठ, वे बोले, "अब मैं जा रहा हूँ।"

"आप जा रहे हैं ?"

"हाँ, कल सुबह आऊँगा। भाई साहब से कह देना।"

वे उठ खड़े हुए, मैंने अपनी सारी असमंजस बटोर कर कहा, "अभी तो नौ भी नहीं बजे हैं। और सिनेमा जाना है।"

यह कहकर नौकर से ताँगा मँगवा लिया। जब नौकर ताँगा ले आया, तब मुझे अपने पर कुछ विश्वास हुआ। किन्तु वे तो खड़े के खड़े ही थे मैंने जल्दी से अपनी बैंजनी साड़ी बदल डाली। खूब शृंगार किया। अपने को सँवार उनके आगे खड़ी होगई। मैं अपने अपनत्व को ऊपर उठा देना चाहती थी। इतना कि सारी दुनिया के साथ चुपचाप उनको भी ढक लूँ।

"भाई साहब को जगा लूँ।" वे बोले।

"हाँ; ठीक मैं जगाती हूँ।" कह मैं उनको झँकोरते हुए बोली, "उठो-उठो!"

कुछ देर बाद आलस्य की एक भारी अँगड़ाई ले वे उठे। बस अपनी सारी उलझन समेट मैंने कहा "हम सिनेमा जा रहे हैं।"

"सिनेमा !"

"ग्यारह तक लौट आवेंगे।" मैंने लापरवाही से कह दिया।

भला वे कुछ इनकार कैसे करते ! उनको पलँग पर सुला ऊनी चादर उढ़ा दी। वे चुपचाप सो गये। मैं जरा निश्चित हुई। सिगरेट निकाल ओठों से लगा, सुलगा ली मनोवेग लिया। उनसे बोली, 'चलिए।'

वे तो चुप खड़े ही थे। मैंने वह सिगरेट उनको सौंपनी चाही, पर उन्होंने

मना कर दिया। मैंने ठट्ठा करके पूछा, "जूठे से परहेज है क्या?"

"नहीं-नहीं। मितली आ रही है।" कह सिगरेट मुझसे ले ली। उनकी उँगलियों के स्पर्श से एक नवीन सिहरन मेरे शरीर पर फैल गई।

फिर परिस्थितियाँ सँवार कर खिलखिला कर हँस पड़ी। उनका हाथ अपने हाथ में ले, दबाती हुई बोली, "जल्दी चलिए, नहीं तो 'शो' शुरू हो जावेगा।"

वे एक अबूझी निगाह से मुझे देखने लगे, मैं कमरे से बाहर निकल, खट-खट-खट सीढ़ियों से उतर, नीचे बरामदे में जा खड़ी हुई।

जाड़े की भीनी-भीनी वर्षा हो रही थी। जैसे अपने में भारी कठिनता लिए हो काफी जाड़ा पड़ रहा था। हवा का एक झोंका आकर शरीर की हड्डी-हड्डी को थरथरा देता। फिर भी दिल की आग नहीं बुझी। शरीर के भीतर एक अज्ञेय थकावट फैलने लगी। मैं ताँगे पर जा बैठी। वे चुपके आगे बैठने की सोच रहे थे कि मैंने उनके कान में कहा, "क्या यहाँ भी झगड़ा करोगे।"

बस वे एक ओर सिकुड़कर बैठ गये। मैंने छेड़खानी करके, ओवरकोट उतार, अपने और उनके घुटनों पर फैला दिया। वे जरा चौंके, फिर चुपचाप बैठे ही रह गये। एक बेकली मन में उठ रही थी।

सिनेमा-हाल के बाहर मैंने देखा कि कुछ लोग खड़े हैं। पहला खेल खत्म हो गया था। मैं ताँगे से उतरी। मनीबेग से दस रुपये का नोट निकाल उनको देते हुए कहा, "पूरा बाक्स ले लीजिये।"

"बाक्स!"

"हाँ, हाँ!"

"बेकार का खर्च है। मुझे तो घर जाना ही है। लौटकर आपको वापस ले लूँगा।"

"आपका घर!"

"वहाँ इन्तजार हो रहा होगा।"

"आपका।"

"हाँ।"

"कौन-कौन है?" भारी हिचहिचाहट के साथ मैंने पूछा।

"एक कुत्ते का बच्चा, वह बिना मेरे खाना नहीं खाता। दूसरा मेरा बाप। और तीसरी...।"

"कौन है वह ?" मैंने बात काटी।

"हमारे पड़ोस की लड़की।"

"आप क्या कह रहे हैं ?"

"यही की स्कूल की सारी पढ़ाई के बाद वह आधी-आधी रात तक, ग्रामोफोन बजाती इधर-उधर ताका-झाँका करती है।"

"अच्छा !"

"और उसे मेरी बड़ी फिक्र रहती है।"

"जाने भी दीजिए उन बातों को। आज इन्तजार ही सही।"

"क्या कहा आपने ?"

"मैं इतने आदर की भूखी नहीं हूँ। चलिए लोग हमें खड़े देख न जाने क्या सोच रहे होंगे।"

अब हम ऊपर बाक्स पर बैठ गये थे। मैं उतावली हो रही थी कि वह लड़की झाँका करती है। एक-एक बात भाँपती है और ये कुछ नहीं जानते। मैंने, फिर पूछा "आपने उससे कभी कुछ पूछा नहीं है ?"

"नहीं।"

"और वह आपको जानती है।"

"खूब जानती है मुझको। दिन भर में कई रंगीन साड़ियाँ बदलती है। बार-बार खिड़की के पास खड़ी होवेगी।"

"इस वक्त पड़ोस की लड़की की याद आ रही होगी ?"

"हाँ !"

"फिर किसी की फिक्र क्यों होने लगी तुमको।"

"मुझे।"

"दिल की महारानी मिल गई और क्या चाहिए !"

लेकिन वे ऊँघने लगे। वह नींद मौका पाकर उनको अपने में समाने लगी। मैं असमंजस में पड़ गई। उस युवक को जिस आकांक्षा से खींच लाई

थी वहाँ बीच में एक लड़की को पा, मैं अपने छिपाये जाल में उलझ गई। उनको जगाया। वे अचरज में मुझे देखते ही रह गये। मैंने कहा "अपनी उस लड़की की बात नहीं सुनाओगे।"

"मैं!"

"आपकी वह क्या लगती है।"

"मेरा तो कोई रिश्ता नहीं। लेकिन आप उसे क्यों जान लेना चाहती हैं!"

"ओह मैं!"

'हाँ आप! हमारा तो अपने मुहल्ले का वह एक अछूता सम्बन्ध है।"

"तो आप दुनिया भर की··· ।"

"यह क्या कोई बुरी बात है?"

"अच्छा वह लड़की खूब सुन्दर है?"

"शायद।"

"मुझसे भी?"

"यह तुलना करनी मैंने नहीं सीखी।"

"नहीं सीखी?"

"मौका ही नहीं मिला मुकाबिला करने का।"

"आप किस धातु के बने हैं?"

"मैं!"

"हाँ आप—आप ही।"

"इसपात का।"

"इसपात!"

"क्यों इसमें आश्चर्य है?"

मैं बात न समझ कर उनको अवाक् देखती रह गई। यह उनका कैसा व्यवहार था और एक मैं थी जो अपने विश्वास में बार-बार उनको बाँधने की चेष्टा करती रही। मैं पगली बन गई। एकाएक उनका हाथ पकड़, तपाक से कहा, "एक बात पूछती हूँ।"

"क्या ?" वे सावधान हो, बोले।

"तुम उस पड़ोस की लड़की से प्रेम करते हो ?"

"मैं ?"

अपना हाथ छुड़ा, वे खिलखिलाकर हँस पड़े।

मैं मुरझा कर सन्न रह गई। इसमें आखिर हँसने का कौन-सा तत्व था ? कुछ जान नहीं पाई। और यह हँसना जरूरी ही होगा। मन में वह हँसी-मखौल उड़ाती, प्रतिध्वनित हुई। वहाँ एक घाव बना, जो अब तक दुख रहा था।

वे चुपचाप सिनेमा देख रहे थे। मुझसे न रहा गया। कहा, 'वह पड़ोस की लड़की जानती है कि आप जा रहे हैं ?'

'सोच रहा हूँ कोई ऐसा यंत्र बना लूँ, जिससे उसके दिल की बातें ठीक-ठीक जान पड़े। आज तक तो मुझे छेड़-छेड़ कर पूछने वाला कोई मिला नहीं।'

'ठीक-ठीक गुरु न !'

'किसी के दिल की छिपी बातें भला कोई कैसे जान सकता ?'

'मैं जान लेती हूँ।'

'भाग्यशालिनी हो।'

'मैं आपके मन की इस वक्त की बात जानती हूँ।'

'क्या ?'

'यही न कि वह खिड़की पर रास्ता देख रही होगी।'

'बात तो गलत नहीं लगती।'

'क्यों ?'

'वह बेचारी मेरी राह देखती थक गई होगी। मैं बड़ा निष्ठुर हूँ कि ठीक तरह उसकी बातों का जवाब तक नहीं देता हूँ।'

'उसकी बातें।'

'वह बहुत-सी बातें सुनाती है। लेकिन मैं उनका जवाब नहीं देता। इस विद्या को किसी ने आज तक सिखलाया ही नहीं। आज आप मिली हैं तो...।'

'मैं......।'

'आप न मिलतीं तो भला मैं कैसे जान लेता कि वह लड़की मेरे प्रेम-जाल में उलझ गई है। उसका वह प्रेम...। ओह उस बेचारी को मैंने बहुत दुःख दिया है। आप पहले मिल जाती तो...।'

'तो क्या होता ?'

'प्रेम को हर एक पहलू से जाँचना सीख लेता।'

'तब मैं कल सुबह आपके घर आकर आग सुलगा आऊँगी।'

'उसका भी दिल फौलाद का-सा पक्का है।'

'मैं तो आऊँगी ही !'

'आना, मैं कहाँ रोक रहा हूँ।'

'वह क्या समझेगी ?'

इसका जवाब न है, वे चुपचाप किसी गहरे चिन्तन में पड़ गये। इतनी बड़ी दुनिया को देखने के बाद उनको अब भी न पहचान सकी कि वे क्या हैं। तब क्या वह मेरी भूल थी। विवेक से सब कुछ तौलकर किसी तथ्य पर न पहुँच सकी। आखिर यह दुनिया तो बहुत फैली हुई है और हर एक को अपना साबित करते बहुत डर जाती हूँ। उस अधिकार की भूल उठकर अब अस्त हो चुकी।

मैंने उनको देखा। सोचा, क्या आजीवन इनके आश्रय मैं नहीं रह सकती हूँ ? यदि इनमें वह सामर्थ्य होती तो मेरा सारा विद्रोह निचुड़ जाता। फिर यह तो एक असम्भव बात थी। क्या-क्या उम्मीदें जीवन में नहीं है ! कभी उनको पा नहीं सकी। और इसी तरह......।

क्या वे चुप रहना ही सीखे हैं यह मैं भला कब मान सकती थी। कहा "इस तरह गुमसुम बैठना क्या अच्छी बात है।"

"हाँ, वह बात ! उसे मालूम होता कि मैं सिनेमा जा रहा हूँ तो जरूर आती।"

"सिनेमा ?"

'अरे यहाँ घरवालों की आँखें बचा, मूँगफलियाँ फेंका करती।'

'यह भी होता है ।'

'जब उसे सिनेमा जाना होता है, दिन भर कई बार एलान करती है। सुनाती है।'

'तब यों क्यों नहीं कहते कि पक्की साँठ-गाँठ है। मैं सब कुछ जान गई।'

'कुछ हो आपसे मतलब ?'

'मुझसे !'

'हम तो एक-दूसरे को एक अर्से से जानते हैं।'

मैं अप्रतिभ हो चुप हो गई। और वे ऊँघने लगे। न जाने क्यों उनको कुम्भकर्णी नींद घेरे हुए थी। मैं परेशान हो उठी। उनको देखा—उफ़! इस दुनिया में कई पहलुओं के बीच अपनी तृष्णा को आज तक अपने में सँवारे रही। अब अपने अधिकार के बाहर वह बात लगी। उनको देखकर मैंने अपना मन परख लेना चाहा। वे मेरे लिए जैसे एक कसौटी थे। दिल में उसे तोड़ने का सवाल उठा। मैं जाग गई। मेरी भीतरी पीड़ा उभरी। मैं उठी, चुपके से मैंने उनका सिर अपनी गोदी में ले लिया। वे चुपचाप सोये ही रहे। उनके मुलायम गालों को अपनी हथेली से सहलाया। उनके बालों को फैला दिया। आखिर अपने को नहीं रोक सकी और उनको चूम ही लिया।

हड़बड़ाकर वे उठे। मैंने उनको देखा। मेरी आँखों से आँसू बह निकले। अपने को समझाकर भी सिसकते-सिसकते बोली, 'तुम सोये रहो। खूब सोये रहो। किसी की परवाह और फिक्र तुमको थोड़े ही है। तुम बहुत बड़े हो। किसी से तुमको वास्ता नहीं रखना है।'

वे अवाक् रह गये। मैं एक झरोखे से उठी। सीढ़ियों से नीचे उतरी। ताँगे पर बैठी और अकेले ही अपने होटल की ओर बढ़ गई।

———

मलिन छाया

'शान्ति ने विषपान किया है !'

'सारे मुहल्ले में समाचार फैल गया। लोग अपना-अपना मत देने में नहीं चूकते। रामू ने कहा, 'वह प्रेम की वेदी पर भेंट चढ़ी।'

रामू का मत ठीक हो सकता है। लेकिन वह अभागिनी विधवा और प्रेम ?

श्यामू सुना गया, 'निराशा की प्रतिमा धूल में रल गई।'

फिर भी मैं सोचने लगा कि, शान्ति को व्यापार करने का क्या अधिकार था ! प्रेम ही जीवन की मुख्य राह नहीं। फिर तब 'निराशा' की अन्तिम सीढ़ी कहाँ ? माना कि प्रेम, निराशा, आशा जीवन के मुख्य अंग हैं। पर उसके भी तो कुछ कर्तव्य थे। परिवार में माता-पिता भाई-बहिन सब की उससे यही लालसा थी कि वह अभागिनी युवती संसार के सूने कोने में आँखें नीची किये, चुपचाप अपना जीवन व्यतीत करे। नागरिकों के प्रति तो उसका कर्तव्य था कि निराशा में भूले भटके पथिकों को मार्ग दिखाती। सुझा देती कि घृणा-प्रेम ही जीवन का कोई खेल नहीं। देश के प्रति उसका कर्तव्य था कि नारी जाति पर लगे इस कलंक से बच जाती। ईश्वर के प्रति उसकी भावना होती कि जिसने यह जीवन दिया, उसकी कर्म-भूमि पर छाती ताने बढ़ती। अन्त में उस अभागे बच्चे का ध्यान तो आता, जो पिता के स्थान की पूर्ति उसकी गोदी में थिरकता पाता रहा।

क्या यह बलिदान है ? क्या यह त्याग है ? क्या यह पागलपन नहीं ? कुछ सूझता नहीं। विचार कर कुछ समाधान न पा आखिर 'आत्महत्या' मान कर अधिक विचार नहीं सकता। न जाने क्यों वह अक्सर मुझसे कहा करती थी, 'उमेश, मैं जानती हूँ कि मेरा जीवन एक पहेली बन गया है। जिसे न बूझ सकने पर शायद अन्त में...।'

मैं समझाता तो जवाब पाता, 'मैं इसे पाप नहीं मानती। जीवन में कई परिस्थितियाँ ऐसी आती हैं, जब कि मर्म-वेदनाओं को न सह सकने पर मृत्यु का आवाहन करना ही पड़ता है...'

मैं कहता—'नहीं यह पाप है। एक अधूरा जीवन है। समाज के प्रति एक अविश्वास ?'

'और इन परिस्थितियों में...'

वह अपना हृदय खोल कर रख देती। मैं निरुत्तर हो जाता।

सच, उन उपकरणों की ढेरी से कुछ हटाया न जा सकता था। परिस्थिति की अग्राह्ययता के बाहर कुछ सूझता नहीं था। अपना मन बुझाव भी तो न कर पाता और स्वीकृति देने सिर दे लिहाता था। न जाने क्यों मैं उसकी बात मान लेता। शायद उसके अभागे जीवन पर दया कर के आत्मीयता के नाते, उसके दुःखी जीवन का अन्वेषण करने या उसके हृदय का भार न सह सकने पर! उसकी एक-एक बात हृदय पर चोट करती है। उस चोट से मैं तिलमिला उठता। लेकिन परवशता के साथ दौड़ लगाने पर अपने को असमर्थ पा किसी कूल को न पकड़ पाता।

शान्ति, मेरे जीवन की आत्मीयता में एक विशेष स्थान रखती है, जिसमें संसार के नाते-रिश्ते कतते हैं। माता-पिता, भाई-बहिन आदि से दूर, वह समीप सी लगती थी—बिलकुल अपने से लगी। उसके हृदय की पीड़ा, दुःख, वेदना सब कुछ एक भार बना मेरे हृदय को और भारी कर देता था। लेकिन भार अलावा न था, अपना था, अपने में सुलझा। मानो शान्ति का व्यक्तित्व एक इकाई मात्र था—जहाँ सुख-दुःख की अनुभूतियाँ हृदय-ग्राही समस्याओं का चित्रण और थीं वेदना मय सिसकार की किलकारियाँ! लेकिन वह तो संसार से घृणा करने लगी थी और अन्त में भगवान् से भी घृणा करने तुली। संसार ने उसे अभागिनी नारी समझा, उसके प्रति अविश्वास का वायुमंडल रचा। समाज ने यह भार निभाया। जीवन का विश्लेषण करने की धुन में वह भावों के प्रवाह में आगे बढ़, लोगों की आँखों में गिर गई। प्रारब्ध की डोरी ने कूल न सुझाया और कर्म रेखा अधूरी निकली। वह संसार की सारी माया-ममता, सारा शोक-सन्ताप सम्पूर्ण आशा-निराशा, सुख दुःख आदि में से अपने जीवन की सहानुभूति के लिए कुछ भी तो न जुड़ा सकी। फिर भी वह संसार से कातरता, दया और श्रद्धा की याचना करती थी। अपनी सरलता से भूलों का पश्चात्ताप कर रो देती। अपने हृदय के फफोलों की सनक को छिपाती, उस पीड़ा को सह लेती। अपने मन-बुझाव का यही निरा बहाना प्राप्त था। वह संसार दूर-जीवन यात्रा के एक रूखे कोने में बैठी अतीत की टूटी लड़ियाँ गूँथती थी। वे उसके हृदय की ज्वालामुखी से मखौल उड़ाने लगतीं। तभी तो मैं देखता,

वह बातें करते-करते फफक उठती हैं। उसका यह हाल देख मुझे भ्रम होता कि संसार उसके लिये रो रहा है। अपनी पलकों को अँगुली से छूता तो वे भीगी मिलतीं, पर्दा हट जाता। संसार हँसता है। यही उसका अनिवार्य नियम है। मेरे आँसू वेदना की ज्वाला से भाप बन उड़ जाते।

शान्ति मेरे जीवन में कुछ आज नई नहीं आई। वह तो आते ही अपना अटल प्रभाव छोड़ गई थी। कुछ साल हुए वह हमारे मुहल्ले में आई थी। एक दिन मैंने देखा था कि दो खोए हृदयों को फिर किसी ने मिला दिया। और आज सुन रहा हूँ, शान्ति ने विषमान किया है। कुछ सूझता नहीं। दिल में एक मीठा दर्द होता है। जिसकी व्याख्या करने पर कुछ समझ नहीं पाता। वह अक्सर कहती थी, 'मैं कितनी अभागिनी हूँ, उमेश!'

यही लाइन मेरा जीवन 'प्रतीक' है। इसी में उसकी श्रद्धा, विनती भक्ति का प्रसाद है और उसकी टूटी वीणा का मृत्यु गीत!

जिसमें एक तड़पन है, एक पीड़ा है और एक द्वन्द। यही मेरे हृदय का छिन्न-भिन्न 'ताज' है। इसे रटते-रटते ही मैं अपने जीवन की चन्द दुःख घड़ियाँ काट लेता हूँ। जीवन की उलझन से अपने को हटा भी अलग नहीं पाता एक प्रतिद्वन्दिता, समस्या की हृदय ग्राही व्यथा की दुःखित कल्पना में खो जाता हूँ—हाँ, शान्ति जीवन में पहिले-पहल ही एक विचित्रता लिए आई। उन दिनों मैं कालेज में पढ़ता था। वहीं वह गर्ल्स स्कूल में मेरी बहिन की संगिनी थी। कुछ आगे बढ़ मिल गई। फक्कड़ प्रकृति की लड़की थी और लापरवाही से बीमार पड़ गई। बड़ी हठी थी; बहिन से बीमारी की सूचना पा मैं उसके बोर्डिंग में पहुँचा, दवा का इन्तजाम किया तो दवा ही न पीती थी। कहती, "कड़वी दवा मैं नहीं पिऊँगी!"

मैंने अनुरोध किया तो टाल न सकी, पी गई।

सब व्यवस्था कर उस दिन मैं 'होस्टल' लौट आया। दूसरे दिन गया तो सुना, फिर उसने दवा की दूसरी मात्रा नहीं पी।

मैंने पूछा, 'शान्ति, दवा क्यों नहीं पी?"

चुप।

'शान्ति !'

अवहेलना पूर्ण स्वर में कहा, 'हूँ !'

'दवा क्यों नहीं पी ?'

'मैं नहीं पिऊँगी।'

मैं स्तब्ध रह गया।

"तुम कल फिर क्यों नहीं आए थे !'

मैं क्या कहता ?

'तभी तो...'

शान्ति चुप हुई। हृदय में गहरी ठेस लगी। बस, मैंने ड्यूटी बदल कर प्रति दिन ठीक वक्त पर दवा पिला, उसे रोग से छुड़ाया और लगातार साथ रहने से उसके मन को मथ लिया।

उसी शान्ति ने तो विषपान किया है! न जाने विष की शीशी कहाँ से जुटाई होगी, फिर उसे पीने की ठान उपयुक्त अवसर ढूँढ़ा होगा। रात्रि के धुँधले अज्ञात पहर, एक बार पिछले जीवन पर दृष्टि डाल···। मुख विवर्ण हुआ होगा, जीवन मृत्यु के खिलवाड़े की लकीर में सीमित पा दिल में जलन हुई होगी। कौन जाने बच्चे को देख, एक बार फिर जीवित रहने की आशा दिल में हरी हुई हो ? लेकिन जीवन के कटु अनुभव में हारी वह···। मुँह में झाग उठा होगा, अन्तरात्मा फड़फड़ाई होगी और·····?

यह उसकी अज्ञानता है। शान्ति समय के फेर से अभागिनी हो चली थी और आज—हृदय की दबी अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के साथ है एक मूक मूर्ति। उसके जीवन में वेदना की आँधी आई। वह बच-बच कर भी उससे न बच सकी। नैराश्यमय वातावरण ने सब परिस्थितियाँ जुटा अनियमितता के मनोवेग के साथ जीवन का मोह छुड़ा दिया। अन्यथा वह ऐसी पहेली न थी कि मनोव्यथाओं की अग्नि में झुलस, माता की ममता, बहिन का प्यार पुत्र स्नेह और पारिवारिक सम्बन्ध को उद्विग्न हो छोड़ने को तुलती! माना कि उसके जीवन में कई बार ज्वार-भाटा आया होगा और उसकी जीवन नौका इस भार को न सह सकी होगी।

वह कुछ पगली तो नहीं हो गई थी कि जीवन ही उत्सर्ग कर दिया ? नहीं, मैं यह मानने को तैयार नहीं। उसमे पागलपन का एक भाटा अवश्य आया, लेकिन वह तो निर्दोषी है। परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी आ जुटीं कि वह बचने की चाहना कर भी न बच सकी और अन्त में·· वह दोषी नहीं। इस समय भी उसकी आँखों में समाज से एक कातर याचना होगी कि समाज के लोगों देखो, मैं कितनी अभागिनी हूँ! वैधव्य की अग्नि में झुलस रही थी तुमने मुझ पर क्या-क्या दोष नहीं लगाए ? मैंने जीवन के पलड़ों में सुख-दुख को तोला अपने हृदय को न बुझा सकी। देखो न, अभी शीशी में जहर की बची चंद बूँदें मेरे दृढ़-निश्चय की मखौल न उड़ा, सांत्वना देती हुई तुम लोगों को घूर रही हैं। क्या किसी में उस कुतूहल समझने की सामर्थ्य है ?

मैं तो शान्ति को भूल चला था। कॉलेज-जीवन छूट जाने पर फिर मैंने उसके बारे में कुछ नहीं सुना। उधर कुछ दिनों तक बहिन के पास पत्र आते रहे और फिर एक लम्बी चुप्पी.........देखते-देखते वह हमारे मुहल्ले में अचानक टपक पड़ी।

उन दिनों मुझे मलेरिया की 'पाँती' आती थी। उस दिन बड़ी कँपकँपी लगी थी। न जाने कितने कपड़े ओढ़े मैं चारपाई पर लेटा था। दाँत फिर भी कटकटा रहे थे कि बहिन ने सुनाया, 'शान्ति आई है।'

मैं उठ बैठा और उतावली में पूछा, 'कहाँ है ?'

यह मैं अपने पिछले जीवन में ही जान गया था कि शान्ति मेरे लिए हृदय के किसी अज्ञात कोने में कुछ छिपाए रखती थी। उसमें परस्पर विनिमय की सम्भावना ठीक तो थी। मैं उसे ही जान लेना चाहता था, पर जानता कैसे ?

'वह हमारी भाभी बनकर आई है।'

'है!...'

'मुहल्ले में मोहन भाई की बारात लौट आई। शान्ति ही भाभी है।'

मैंने समस्त हृदय की वेदना समेट चुपचाप रजाई ओढ़ ली। हृदय में

प्रतिद्वंद्विता के भाव आए। उस दिन मैंने हृदय को टटोल कर देखा तो एक मलिन छाया वहाँ के अस्तित्व में रली दुबकी खड़ी थी। मैं अनजाने कुछ बूझ लेते तुला।

कई प्रश्न उठे।

शान्ति और मेरा सम्बन्ध? हमारे जीवन का उभरा बहाव? हृदय की गुदगुदी में अन्तर्वेदना? कुछ भी सोच-समझ नहीं पाया।

बस शान्ति ने अन्त में वही किया, जिसे अपनाने की धमकी वह बार-बार देती थी।

मैं समझाता, 'शान्ति, मैं पाप को नहीं मनता। संसार में पाप-पुण्य कुछ नहीं है। जीवन कुछ समझ में आता नहीं। कोई व्याख्या नहीं। बंधन नहीं और पाप-पुण्य मानना न मानना बराबर है। हाँ, 'संयम' की एक सीमा है। वह मान्य है। अन्यथा समाज ने पाप-पुण्य की कोई सीमा निर्धारित नहीं की। वह तो हमारे विचारों का परिधान मात्र है। देखो न शान्ति तुम ...'

'...मैं...' शान्ति कुछ और बोल न पाती।

कल और आज की शांति—कितनी बदली थी! यह कैसी दुनियादारी थी, कैसा व्यापार था! मैं सोचता, नारी को भगवान् ने क्या बनाया है? उसका अपना कुछ भी नहीं! वह दूसरे के सहारे खड़ी रहती है। अपने स्वामी की प्रतिछाया है। उसके बिना वह चल नहीं सकती है। और शांति—? उसका स्वामी उसे एक छोटा-सा खिलौना सौंप कर, अभागिनी टीका लगा, वहाँ चला गया था, जहाँ से सुना देखा, कोई भी लौट कर आया नहीं।

मोहन कैसा हँसमुख था! मेरा अपना सगा था। नामी डॉक्टर था। लोगों पर उसकी धाक थी। उस दिन मैंने अपना किस्सा सुनाया, तो हँस पड़ा। कहा फिर, "वाह खूब। भई तेरी ही भाभो तो है। ले जा, तेरे ही लिए लाया हूँ!"

मैं उसे भाभी न कह सका। मैं शान्ति ही कहता था। इस नाम में सगापन था, एक रिश्ता था और था अतीत का एक रोमांच! बहिन की पुरानी सखी भाभी 'सच' बनकर नजदीक आई थी!

एक दिन उसके सुहाग की रोशनी पर अचानक अँधेरा फैल गया। उस साल की प्लेग, उसे मझधार में बिना नाविक के असहाय छोड़ गई। उस स्मृति की हृदय पर गहरी काली रेखा है! जिसे देख मैं उदभ्रान्त हो उठता हूँ।

पहिले वह कितनी हँसमुख थी! बात-बात पर चुटकी लेती, अपनी मुस्कान से घर भर को मोह कर अपने में रला लिया था। उस सुखी जीवन में काली-काली रेखाओं का जाल छा गया। वहाँ एक भूकम्प आया। उसे उस छोटी सी अवस्था में ही एक विकराल चीख सुनाई दी। वह काँप उठी, डर गई और अदृष्ट श्राप की इस पीड़ा से रो उठी। बस, विषपान का प्रश्न उसी दिन उसके हृदय पर लीक मार गया होगा। आज वही हल्की लीक, एक अटल रेखा सी उसके जीवन में अलग पड़ी है। उसमें उपेक्षा, कातरता, असहायता और वेदना की काली गहरी छाप साफ़ दीख पड़ती है। मुहल्ले वाले डंका पीटें कि उसने विषपान किया है इससे उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लोग इसमें सहानुभूति न ढूँढ़ अपनी बेकार आलोचना कर रहे हैं। शान्ति ने विषपान किया, यह कोई नई बात नहीं। दुःख के आवेग को न सह सकी और वैधव्य की तड़पन में जलभुन अपने दग्ध जीवन से छुट्टी पा गई। फिर भी लोग अपना मत देने में नहीं चूकते!

रामू ने सुनाया, "वह प्रेम की वेदी की भेंट चढ़ी।"

यह रामू का स्वतंत्र मत नहीं। लोकमत के साथ वह बहा है। और शान्ति तो अपने वैधव्य-जीवन में लोगों के आगे अपना दुःखड़ा न रोती थी। वह तो अन्दर ही अन्दर घुलती रही। वह समाज के नेताओं के आगे मार्मिक तीव्रता से अपनी वेदना की पुकार न पहुँचाती थी। न अन्य विधवाओं के समान आठों पहर रो-रोकर काटती। वह तो जटिल संसार के समस्या पूर्ण जीवों के सुख-दुःख वेदनाओं-घृणाओं और कातर याचना की अनुभूति में लीन हो अनिर्वचनीय आनन्द में विभोर हो फूल उठती थी।

मैंने कहा था, "शान्ति, यह भाग्य की अमिट रेखा थी। अब अपने जीवन को बच्चे के सहारे व्यतीत करना।"

"कोशिश करूँगी, लेकिन मैं तो विधवा हूँ। आज समाज मेरे सब

अधिकारों को छीन लेना चाहता है। हमें जरा भी स्वतंत्रता नहीं है!"

ग्लानि और परिताप से उसकी आँखें अनायास बरस जातीं। मैं क्या उत्तर देता।

उसका जीवन एक 'मूक दुःखान्त' था। वह एक जीवित समस्या निकली। जिसे भूल जाने की चाहना रख कर भी भूल नहीं सकता। वह नारी-हृदय की सारी परवशता समेट कह देती, "तुम्हीं बतलाओ यह क्यों हो? तुम उसी समाज के प्रतिनिधि हो। क्यों एक विधवा के जीवन पर इतनी सीमाएँ बाँधी जावें? हँसने बोलने तक की मनाही है!"

मैं अवाक रह जाता!

'कल क्या समाज तुम पर आँखें नहीं गड़ायेगा कि तुम एक विधवा के नजदीक...'

मैं व्यथित हो उठता।

समाज ने शान्ति को नहीं पहिचाना। उस पर भी काना-फूसी लागू कर दी।

शान्ति—वह विधवा हो गई। स्वतंत्रता का पूर्ण उपयोग करना उसने सीखा था। आखिर उसका क्या दोष? आज वह धुली धोती पहिन, रंगीन जंपर डाले अपनी संगिनियों के साथ दुःख भुलाने हँसे-खेले, तो समाज को उस पर अँगुली उठाने का क्या अधिकार है? कितना आश्चर्य है, शोकाकुल अभागिनी विधवाओं से समाज क्या चाहता है?

शान्ति भी चुपचाप कोने में दुबकी समाज की भली-बुरी बातें क्यों सुने? यह उससे नहीं हुआ। यह उसने सीखा न था। वह झूठी बातों का प्रतिवाद करती। उनके कहने वालों का मुकाबला करती। फिर एकाकी कोना ढूँढ़ चार आँसू बहाती।

रामू का वह कथन क्यों मेरे हृदय पर गहरी नीरवता छा देता है? वह तो मखौल सा उड़ाता दीखता है—और अनौचित्य के आवरण में...डालता है। मैं इसे सह नहीं सकता।

—और श्यामू सुना गया, 'निराशा की प्रतिमा धूल में रल गई।'

न जाने क्यों मेरे हृदय में रामू-श्यामू का मत मलिन हँसी-हँस देता है। एक अज्ञात गुदगुदी होती है। ज्ञेय कुतूहल है फिर भी सोचने समझने पर कुछ नहीं पाता। अपनी इस अस्तव्यस्तता में जीवन की कई नाजुक घड़ियाँ गवाँ देता हूँ।

उसने विषपान क्यों किया? क्या समाज के डर से?

नहीं, इसमें एक त्याग था। वह जानती थी कि शान्ति और उमेश दो प्रलयकारी शक्तियाँ हैं। दोनों में विभिन्नता नहीं, दोनों साथ रह सकेंगे। बस, हृदय की वेदना, सिसकार और कसक को छिपाए, अपने दुःख की अथाह छाया में धकेल, उमेश की रक्षा के लिए उसने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया।

क्या उसका यह सोचना ठीक था?

हाँ, मैं शान्ति के अति समीप पहुँच गया था। एक दिन मैंने देखा : शान्ति का पूर्ण-चित्र मेरे हृदय में बिखरा पड़ा है। वह आज भी है। आजीवन रहेगा। हटाए, हटता नहीं। भला इसमें मेरा क्या दोष?

मोहन भइया ने मृत्यु शय्या पर उसका हाथ मुझे सौंपते कहा था, 'उमेश, मैं एकाएक तुम लोगों को मिला लेने आया। अब जा रहा हूँ। मुझे जाना है। तुझे शान्ति सौंपे जाता हूँ।'

शान्ति का काँपता हाथ उन्होंने जबरदस्ती मुझे सौंपा था। उस समय मेरी आत्मा रो रही थी।

उनका भी मानव हृदय था, मेरा भी और शान्ति का?

उसी शान्ति को तो अंत में विषपान करना पड़ा। उसने यही उचित समझा। मैं असमर्थ था। यह मेरी जिम्मेदारी थी; पर मैं लाचार था, असहाय था।

इसमें मेरा क्या दोष? मैं परिस्थितियों को सँभाल लेना चाहता था। पर वह तो न जाने कब से मेरे जीवन की धुकधुकी में छिपी बैठी थी। मेरे अन्तस्तल की विभूति से आँख-मिचौनी खेल रही थी। उसे सान्त्वना क्या देता? वहाँ इसका असर न था। मेरी हृदय की भावनाएँ चूक गई थीं। कई महीने बाद

मैंने देखा कि शान्ति मेरे नजदीक लगी खड़ी है। वह भावावेश में कह बैठी एक दिन, 'क्या मेरा जीवन पहेली नहीं है, उमेश!'

उस रात्रि में सो नहीं सका। शान्ति पर मेरा अधिकार था। वह द्रुतवेग से मेरे जीवन में आई थी। फिर हमारे बीच एक काली धुँधली छाया खड़ी हो गई। हम समीप थे, पर अलग-अलग, एक न थे। कितना अधूरा रिश्ता था!

—अभी कल रात्रि की तो बात है। शान्ति ने मुझे बुलाया था। न जाने कितनी देर उसके पास बैठा रहा।

मैंने पूछा था, 'शान्ति, तुम इतना क्यों घुल रही हो?'

वह कुछ न बोली।

'देख शान्ति, क्या मुझे भी अपना सगा नहीं गिनती?'

वह चुप थी।

'शान्ति!'

वह बोली, 'मैं अभागिनी हूँ। संसार से घृणा करती हूँ। जीवन से ऊब गई हूँ!'

'शान्ति!' मैं समझाता हुआ बोला।

शान्ति फिर चुप हो गई।

मैं समझ गया कि वह हृदय में कुछ छिपाए है—जिसे कहने की चाहना रख भी कह नहीं सकती।

'यह चुप्पी क्यों, शान्ति? मुझ पर भी अविश्वास!'

'विश्वास···। नहीं—नहीं...' वह रुक पड़ी कहा फिर, 'तुम मेरे सब कुछ हो। मैं तुमको अपना सगा गिनती हूँ। तुम्हीं अकेले मेरे हो।' वह तपाक से बोली।

'अकेले, सगे···' मैं गुन गुनाया!

'क्या तुम नहीं जानते? यह छिप नहीं सकता। क्या यह झूठ है? नहीं—नहीं—नहीं...!'

वह उत्तेजित हो उठी। आँखों की लाली में कुतूहल था। वह सब कह गई। कहना, न कहना।

मैं दिगमूढ़ रह गया। पूछा, 'क्या ?'

वह आगे न बोली।

मेरे हृदय में खलबली मच गई। वह फिर बोलो।

'ठीक समाज की बातें सुनते हो ? क्या तुम कलंक से अछूते हो ?'

मैं चुप रह गया।

'तुम कितने भोले हो ?' वह मार्मिक भाव में मुसकराई।

मैं संज्ञ रह गया !

'नहीं, मैं विधवा हूँ, उमेश ! तुम कल से यहाँ न आया करो। मैं समाज की कलंक हूँ।' उसकी पलकें भीग गईं।

कितनी क्षुब्धता थी ! मैं चौंक उठा।

'जाओ, कल से न आना। हमारा समाज यह नहीं देख सकता।'

मैं चला आया—और आज सुन रहा हूँ, शान्ति ने विषपान किया है।

क्या उस मलिन छाया को भूल जाऊँ !

आविष्कार

चित्राकार अपने नये चित्र को गौर से देख रहा था।

बहता नाला, पास छोटी-छोटी झाड़ियाँ, नीला-नीला आसमान और फेड़िया के पाँवों में मरा बकरी का बच्चा। बच्चा—निर्जीव, निश्चल सोया, सुन्दर-सुन्दर......!

चित्रकार की आँखें चित्र पर टिकी कुछ ढूँढ़ रही थी। किसी ने पीठ पर हाथ रखते कहा, 'खूनी ?'

चित्रकार ने फिर देखा, वैज्ञानिक अपने नीले सूट में खड़ा था। वैज्ञानिक ने कहा, 'अच्छा चित्र बनाया है। उसकी आँखें ही सारे भाव स्पष्ट कर देती हैं। तुम बधाई के पात्र हो। कहो, यही नाम तुमने भी चुना होगा। यही तो तुम्हारी भावना होगी। अब क्या सोच रहे हो। उलझन कैसी ? निश्चिन्त

होकर वही लिख दो......'

'वैज्ञानिक' चित्रकार ने चित्र पर से आँखें उठा उसकी आँखों में डुबो कर कुछ टटोलते कहा।

वैज्ञानिक कहता रहा,—'वातावरण के अनुकूल चित्र है। जितनी विभिन्नता है, उतना ही सजीव। बच्चा अबोधता का पुतला और......।'

'चुप रहो वैज्ञानिक! व्याख्या कर लेने को मैंने यह नहीं बनाया। दिल का एक तकाजा था, वही चित्र पर बखेर दिया। पर मैं यह न सोचता था। मेरा खयाल था, इसका उपयुक्त नाम होगा—'पैसा और मजदूर।' पैसा मजदूर को कुचलता है। मजदूर की बेबसी का ध्यान किसी को नहीं।'

'ओ...हो..हो!' वैज्ञानिक हँस पड़ा। 'बड़ी गम्भीर सूझ है। कहते तुम पते की बात हो। लेकिन अपना-अपना दृष्टिकोण है। यही ठीक सही।' रुककर—'चलो-चलो, मैं तुमको लेने आया हूँ।'

चित्रकार उठा। साथ हो लिया। शहर को छोड़ दोनों एक पगडण्डी की ओर बढ़े। अन्त में पहाड़ी पर चढ़ने लगे। चढ़ते-चढ़ते वैज्ञानिक बोला,—'थक तो नहीं गये।'

'थकान......।'' चित्रकार अटक पड़ा। बोला फिर 'पेंटिंग'की थकान और इसमें अन्तर है। तुमने 'सराय' का चित्र देखा है। '——' का बनाया; बूढ़ा मुसाफिर, उसकी बीबी और एक बच्चा, रात्रि को चुपचाप सराय के एक कोने में बैठे हैं। चाँदनी की छाया मे तीनों के चेहरे से थकान टपकती है। वह मात्र हमारे हृदय के भावों और मस्तिष्क पर कब्जा करती है। यह हमारे शरीर से वन्चित है। कितना भारी फर्क है।'

दोनों पहाड़ी की चोटी की ओर बढ़ रहे थे। एक टीले पर बैठकर वैज्ञानिक ने अपनी जेब से कैमरा की तरह छोटा-सा यन्त्र निकाला और चित्रकार से कहा, 'देखो?'

"घरर-र-र-र.. ......।' कुछ दिखलाई दिया?"

'नहीं'

'कोण गलत होगा।'

'घरर...रर ररर' अब।'

'ठहरो-ठहरो।' कह चित्रकार ने आँखें यन्त्र से हटा लीं।

''उफ।' जैसे भारी थकान के बाद, साँस लेने का मौका मिला हो।

'क्या देखा ?'

चित्रकार की आँखें अभी तक, सहमी और डरी उसने पायीं। चित्रकार बोला—'घना जंगल...बड़ी-बड़ी चींटियाँ मनुष्य को खा रही हैं। पीछे-पीछे मुरझाये पत्ते जमीन पर फैले हैं। उन पर कई जिन्दे मनुष्य पड़े हैं। वे हिलते हैं, डुलते हैं, चीखते हैं और आखिर हारे असहाय लेट जाते हैं।'

'यह तो जीवन का एक पहलू है—चित्रकार, इसमें डर क्या ? इतनी-सी बात से डर गये। यह आविष्कार एक दम नया होगा। जो मनुष्यता और जीवन की पहेलियों को सब के आगे पेश करेगा। फिर 'समस्या' न रहेगी। इसके आगे जटिल सवाल हल हो सकेंगे। यह तो निरा एक Idea (भाव) है। मैं चाहता हूँ, तुम कुछ ऐसे चित्र बना लो। लो और देखो।'

चित्रकार ने देखा—श्मशान, अँधियारा। चीख उठा—'वैज्ञानिक, वैज्ञानिक !'

वैज्ञानिक चुप।

'अरे, तुम भी क्या ?'

वैज्ञानिक चुप यन्त्र पकड़े हुए था उसी भाँति स्थिर रहा।

चित्रकार ने आँखें अलग हटा लीं। कुछ देर तक यन्त्र को और वैज्ञानिक को देखता रहा। कुछ कहना चाह कर भी कह नहीं सका। अपने में ढूँढ कर कुछ जैसे खोया लगा।

कहा फिर, ''वैज्ञानिक यह क्या ? क्या मनुष्य की सभ्यता यहीं खात्मे पर है।'

'क्या कहा ?'

'यह कैसा दृश्य था। एक मनुष्य दूसरे को हड्डियों के टुकड़ों से मार रहा है। खून, घाव...? तुम भी उनमें मुझे झगड़ते लगे।'

'लड़-झगड़।' वैज्ञानिक ने कहा, 'यह तो संघर्ष है। अपने लिए हमें सब निभाना है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं। यह रोज का हाल है।'

'रोजका।' चित्रकार ने हल्के दुहराया।

'हाँ, हमें रोज अपने को चालू रखने के लिये लड़ाई लड़नी पड़ती है और देखो······।'

'घरर—घरर······ररर।'

चित्रकार ने देखा; युवक-युवतियाँ नग्न नाच रही थीं। कितना पतन! कैसा श्राप!!

'बस···।' कह चित्रकार उठ बैठा, 'चलो घर चलें।'

'अभी कुछ और देख लो। यहीं बस नहीं। आगे और है—भले ही अग्राह्य सही। फिर भी हमसे अलग नहीं है। हममें ही है···।'

'वैज्ञानिक' चित्रकार जोर से बोला, 'क्या कहते हो? मैं इस तर्क का पोषक नहीं। मेरी दुनिया कुछ और है।'

'कुछ और।' वैज्ञानिक ध्रुपद में हँसा। 'वही सब नहीं, कुछ और जरूरत भी है।'

'जरूरत।' चित्रकार के मुँह से निकला।

'कभी सही—अभाव ही। खैर—देखो, देखो!'

'हैं, हैं, हैं...भाग चलो, भाग चलो।' चित्रकार ने आँखें मूँद लीं। फिर आँखें मलते पूछा, 'यह तुम क्या ढूँढ़ रहे हो कहाँ पहुँचोगे? मतलब क्या है?'

'देखा नहीं तुमने। सारी दुनिया, बड़ी इमारतें, इसी तरह गिर पड़ेंगी—एक दिन। न तुम होगे, न हम। हमारा अस्तित्व एक धोखा रह जावेगा।'

'यह झूठ है। मैं इस पर विश्वास नहीं करता।'

'नहीं करते। तो, देखो न, हिम्मत क्यों हार रहे हो?'

घरर...घरर...ररर...ररर...।

'देख रहे हो न इतनी गाड़ियों का रोज का काम मुरदों को लाद कर ले जाना है। क्या देखा; बच्चे मर रहे हैं। उधर दाहिनी ओर वह गरीब औरत

रो रही है उसका स्वामी चोरी में सात साल को जेल गया है। पेट के लिए चोरी की थी—कानून ने पकड़ लिया। और......।'

'तुम जानते हो, मैं सिर्फ चित्रकार हूँ, 'विचारक' नहीं। फिलासफी भी मुझे परेशान करती है जिन्दगी कट रही है, कटने दो। उसके मनोविज्ञान से वास्ता नहीं। अच्छा अब चलो।'

'यही इतना है बस। आगे अभी यन्त्र कुछ पकड़ नहीं पाता। कुछ तुमको सूझा ?'

'उठो।'

दोनों उठ कर नीचे की ओर बढ़े। वैज्ञानिक कह रहा था, 'तुम देख रहे हो न, कितनी विभिन्नता दुनिया में फैली है। इधर महल, उधर झोपड़ियाँ। वह मोटर जा रही है, हम पैदल ही जिन्दगी का सफर कर रहे हैं। हमारे आगे आज की रोटी का एक सवाल है।'

चित्रकार चुपचाप बढ़ रहा था। रोज की बात में क्या राय दी जावे।

शहर की चौड़ी सड़क पर एकाएक चित्रकार रुक पड़ा, कहा, 'चलो।'

'कहाँ ?' वैज्ञानिक ने कौतूहल से पूछा।

'सामने, देखते नहीं हो।'

'नहीं, नहीं।'

'चलो भी, वह बुला रही है।'

'क्या तुम उसे जानते हो ?'

'हाँ, आज कल वह मेरे नये चित्र की भावना है।'

'भावना।'

'सच कह रहा हूँ। कुछ वैसे बुरी नहीं। शायद तुमको पीछे गाली देने की नौबत नहीं आवेगी।'

'ठहरो भाई।'

'क्या ?'

'वह देखो......अरे सड़क के किनारे—वह वह भिखारिन मर रही है।'

'मर रही है—मरने दो। न तुम्हारी सामर्थ्य है कि उसकी मौत रोक लो।

न मेरी, तुम क्यों बेकार इतनी फिक्र कर रहे हो। तुम-हम उससे बाहर नहीं। उसका हमसे लगाव है।'

'नहीं, उसे देख लेने की चाहना रह जाती है।'

'चाहना, चलो वह खड़ी न जाने क्या सोचती होगी।' चित्रकार ने वैज्ञानिक को अपने साथ ले लिया।

सुन्दर फर्श बिछी, किनारे कई तकिये। सामने दिवाल पर आठ ही बजाती रुकी घड़ी। नीले-नीले रंग में पुती दिवाल और एक युवती जामुनी साड़ी में बैठी।

वैज्ञानिक दरवाजे पर ठिठक गया, सोचा; भिखारिन मर रही है। उसके पास अपना कोई नहीं। उसकी असहायता की यह उपेक्षा? वह लौट कर भिखारिन को दिलासा देगा, उसे धर्म समझावेगा। उसे शान्ति मरने की सीख पढ़ावेगा। उसके हृदय में समाज के प्रति उठते विद्रोह को हटा लेगा।

वैज्ञानिक ने पीठ फेरी, चाहा नीचे उतर पड़ें कि चित्रकार ने जोर से पुकारा, 'वैज्ञानिक?'

वैज्ञानिक की आँखें फिरीं, वह युवती घूर रही थी। अब कहा, 'तशरीफ रखिये।'

वह चुपके एक कोने में सिमट कर बैठ गया। उलझन हट गयी थी, तकिये का सहारा ले लिया था।

चित्रकार ने कहा, 'कुछ सुनाओगी नहीं।'

वह गाने लगी—'......।'

एक विषाद-पूर्ण गीत था। पहाड़ी का चारागाह, खेलते बच्चे, एकाएक आसमान का घिर जाना, बच्चों की घबराहट, फिर बरफ का तूफान। घबड़ाये बच्चों की भाग-दौड़ और निपट अन्धकार में बच्चों का खो जाना। फिर अगली सुबह बरफ की जमी सतह पर सूर्य का चमकना। सुफेद फ़र्श—कहीं-कहीं बीच-बीच में उठी, काली-काली सतह-सी—बच्चों की लाशें...।'

वैज्ञानिक आँखें मूँदे झूमने लगा और आँखें भर आयीं। खयाल आया फिर कल; कुछ साल बाद, जब गाने की उम्र निपट जावेगी। देखी-सी फिर

एक छाया—सुफेद-सुफेद बाल, झूरियाँ पड़ी...वही सुन्दर वेश्या और...।

वैज्ञानिक चौंक उठा, जैसे किसी ने हिलाया हो। कुछ नहीं सूझा। गाना बन्द हो चुका था। लगा फिर, एक दिन वह वेश्या कौन जाने जीवन से ऊब कर आत्महत्या कर ले। रंगीनता का आखिरी अध्याय वही होगा क्या?

फिर गाना शुरू हुआ। वह उठा और चला आया। चुपचाप आगे बढ़ा। बरसात के दिन। कच्ची जमीन पर कीड़े बढ रहे थे। वह रुक गया। उनका तमाशा देखने लगा। वह लम्बा-लम्बा साँप-सा आगे बढ़ता, गोल-गोल मिट्टी के घेरे बनाता, वहीं रहता! उसने लकड़ी का टुकड़ा उठाया, उसे छुआ—वह सिकुड़ गया। निर्जीव पड़ा रहा। जब आहट बन्द हुई, तब फिर चलने लगा।

भिखारिन की याद आयी। वह वहीं पहुँचा। भिखारिन मर गयी थी। वह कहती लगी—अब आया तू घमण्डी वैज्ञानिक! एक दिन तुझे कुछ प्राप्त नहीं होगा।

भिखारिन अर्द्ध-नग्न थी। उसने अपना रेशमी रूमाल निकाल और उसके चेहरे पर फैला दिया।

अब आगे बढ़ा। होटल की ओर बढ़ा। मन में भारी उचाट था। सोचता—मक्खियों की जिन्दगी चन्द मिनट की, जानवर कुछ दिन रहते हैं। मनुष्य कुछ साल और दुनिया कुछ शताब्दी। सब—सब......!

पुलपर बढ़ते सुना, 'छप-छप'। देखा—नदी में कछुए एक बकरी के बच्चे के चारों ओर घेरा बनाये उसे खा रहे थे। असहाय बच्चा तड़फ रहा था। उसने आँखें मूंद ली, चाहा कि नदी में कूद पड़े। वह नहीं रहेगा अब! इतनी पीड़ा इतना दुःख...।

किसी ने पीछे से हिलाते कहा, 'क्या सोचते हो?'

'तुम चले आये चित्रकार।' वह चिल्लाया। 'चित्रकार!। चित्रकार...!!'

'तुम रो रहे हो।' चित्रकार अवाक् हो बोला।

वैज्ञानिक संभल गया। कहा फिर 'चित्रकार, जीवन में सुख नहीं—वही क्या हमारी भूख है।'

'वैज्ञानिक...।'

दोनों होटल पहुँच गये थे।

चित्रकार ने मेज पर बैठ कर पुकारा, 'ब्याय, ब्वाय, मीनू!

"............"

फिर खाना मँगवाया। दोनों खाना खाने बैठ गये। वैज्ञानिक ने बड़ा आलू का टुकड़ा मुंह में डाल लिया और निगल गया। आँखों में अब भी आँसू थे।

चित्रकार ने फिर पुकारा, 'ब्वाय—दो पेग 'जान हेग।'

'नहीं—नहीं,' वैज्ञानिक ने टोकते हुये कहा, 'एक अपने लिये मँगवा लो।'

'अपने लिये, नहीं। तुम भागना क्यों चाहते हो? कहीं तो डटकर खड़े रहा करो।'

'भागना......'

खा-पीकर दोनों चुपचाप कुरसियों में बैठकर सिगरेट फूकने लगे।

वैज्ञानिक बोला, 'इस होटल का भी एक व्यक्तित्व है, दायरा है पर अधूरा।'

'अधूरा···हा, हा, हा; चित्रकार हँस पड़ा, 'यार तुम यह क्या कह रहे हो? मुझे तो होटल की जिन्दगी में पूरा मज़ा मिलता है।

'लेकिन...'

'क्या......'

'कुछ हो। अपना-अपना खयाल है। किसी दिन यह होटल नेस्तनाबूद हो जावेगा। हजारों, लाखों आदमियों का बही-खाता यहीं दबा रहेगा।'

दोनों उठकर बाहर चले आये और अपने-अपने घर पहुँच गये।

कुछ दिन तक चित्रकार नये चित्र बनाने में लीन रहा। वह करीब-करीब खतम कर चुका था।

एकाएक वैज्ञानिक आ बोला, 'इतनी सुबह-सुबह।'

'कल रात-भर सोया नहीं। यह देखो······।'

'हैं, हैं।' वैज्ञानिक आँखें फाड़-फाड़ कर चित्र को देखते बोला।

'क्या है? कितना सुन्दर चित्र हैं। मुझे यह चित्र खूब लगा है। चाहता हूँ, चित्रवाली युवती में रल जाऊँ।'

'रल जाऊँ।' वैज्ञानिक ने दुहराया।

'यह गलत नहीं—।'

'ओ' चित्रकार यह तो उसी रमणी का चित्र है।'

'रमणी का?' चित्रकार ने आश्चर्य से पूछा।

'क्या तुम नहीं पहचानते हो। उस वेश्या के चेहरे के सारे भाव व्यक्त हैं। यह असह्य है। उस नारी को क्यों इस तरह पोत रहे हो।'

'पोत...। यह झूठ है।'

'झूठ...।'

'मैं दावे के साथ कहता हूँ। वैसे तुम जानते हो, मैं सारी स्त्री जाति का कायल हूँ—सब युवतियों का। चाहता हूँ मौत की अन्तिम घड़ी, कोई कुछ रंगीन साड़ियों के आँचल भिगो, उनका पानी मुँह में टपका दे। और मैं निश्चित सो जाऊँ।'

'निश्चिन्त...।'

'तब आत्मा प्यासी नहीं भटकेगी।'

'क्या तुम आत्मा पर विश्वास करते हो?'

'विश्वास, कहीं कुछ उलझन तो लगती नहीं कि अविश्वास से खेलूँ। अविश्वास साध्य है। वह ठीक लगता है। अविश्वास भले ही विद्रोह लावे, हमारी भारी जरूरत है।'

'विद्रोह और जरूरत?'

'तुम क्या चाहते हो वैज्ञानिक?''

'कुछ नहीं।'

'यह झूठ है। मैं जानता हूँ। तुम एक स्वप्न को सजीव बना लेने के लिए आविष्कार कर रहे हो।'

'क्या...ठीक...नहीं! यह ठीक है, मैं नया आविष्कार कर रहा हूँ। यन्त्र

से मेरा सम्बन्ध है, लेकिन मैं लेन्स से खेलते हाथों से अलग रहता हूँ। उनसे मुझे वास्ता नहीं। वे अलावा हैं। रोज प्रयोगशाला में भारी वक़्त काटना है, कट जाता है।'

चित्रकार ने पूछा, 'सन्ध्या को सिनेमा चलोगे।'

'मुझे उन चलती तसवीरों का शौक नहीं।'

'आज चले चलना।'

'अच्छा, साँझ को सिनेमा हाल में मिलूँगा।' कहता हुआ वैज्ञानिक चला गया।

अब चित्रकार ने तसवीर के चेहरे को घूर-घूरकर देखा। कपड़े पहिन भागा-भागा वेश्या के यहाँ पहुँचा। देखा, वह सो रही थी। चाहा, उसे चूम-चूम कर जगा दे। डर गया। लौट आया। हिम्मत हार गया था।

लौटकर आँखें मूँदे एक बार उसके आगे सोयी रमणी का बिखरा चित्र आया। सारा...।

उसने अपना अलबम खोला। कुछ फोटो निकाले। बड़ी देर तक उनको देखता रह गया। एक फोटो पर रुक पड़ा।

उसने राइटिंग पैड निकाला और खिन्न हो लिखना शुरू कर दिया:

उमी,

आज फिर तेरी याद हो आयी। याद है, तुझे मैंने कितनी चिट्ठियाँ नहीं लिखीं। अपने दिल की बातें, अपनी भाषा में लिख कर तुझ तक पहुँचाते कहीं हिचक न रही। तू जवाब नहीं देती। जैसे जवाब दे नहीं सकती और जानता हूँ, जवाब पाकर मैं कुछ खाली फिर भी रह जाऊँगा।

आजकल अजीब 'मूड' में हूँ। पिछले पत्र में मैंने तुझे अपने वैज्ञानिक दोस्त की बातें लिखीं थीं। अजीब आदमी है। लगता है, संसार की सारी निराशा पिये हो। सोचता हूँ, तुझे अपने दिल की बातें लिख कर मैंने गलती की। आज चन्द दियासलाई की सींकें और जला लेने को कागज साथ भेज रहा हूँ। अकेले कोने में सब चिट्ठियाँ जला देना। सुफेद-सुफेद धुआँ

निकलेगा। वहीं तेरा ठिकाना है। हमें भी तो एक दिन ऐसे ही धुएँ में रह जाना है।

न उमी, तू अलग रहना चाहती है—मैं ही कहाँ चाहता हूँ कि कोई मेरे नजदीक रहे। बचपन का लम्बा अरसा लगता है, झूठ था। तब तुझमें समझ न थी। आज तू समझदार हो गयी है। साथ एक तसवीर भेज रहा हूँ। इसका चेहरा एक वेश्या से मिलता है। आजकल वही मेरी परेशानी संभाले हैं। मेरे पास कोई और साधना भी तो नहीं। याद है, तुम्हारी शादी के बाद मैं अकेला छूट गया था। फिर......

तसवीर तुम देखना। खूब ही देखना। वैज्ञानिक का नया आविष्कार अभी कुछ आगे नहीं बढ़ा है।

तुम्हारा

'______'

सन्ध्या को वैज्ञानिक और चित्रकार सिनेमा घर-गये। दोनो साथ-साथ फिल्म देखने लगे। वैज्ञानिक ने चुपके कहा, 'अपने को धोखे में क्यों डुबो रहे हो चित्रकार।'

'धोखा ?'

'देखते नहीं, सिर्फ तमाशा है! व्यवहार में यह खरा नहीं। जिन्दगी का तमाशा इससे सुलझा है। अच्छा तो बिदा।'

चित्रकार कुछ कहे कि वैज्ञानिक बाहर निकल गया।

फिर चित्रकार का मन नहीं लगा। वह उठ आया। देखा, सामने पेड़ की छाया में वैज्ञानिक चुपचाप खड़ा था।

आगे बढ़; नजदीक पहुँच, वह पुकारना चाहता था—वैज्ञानिक, कि वैज्ञानिक ने ओंठों पर उंगली लगा, चुप रहने को कहा।

चित्रकार ने आगे बढ़ वैज्ञानिक के इशारे की ओर देखा। खिली चाँदनी रात्रि, साँप सोया। चूहे का बच्चा उसके मुंह से खेल रहा था।

चित्रकार चौंक उठा। एकाएक साँप ने अपना फन उठाया। चूहा संभला। गलती मालूम हुई। भागना चाहा। साँप उसे पकड़ने बढ़ा।

अब आधा चूहा साँप के मुंह में था। फिर पूरा चूहा साँप निगल गया। साँप इधर-उधर घूम-फिर कर बिल में घुस गया।

अब वैज्ञानिक ने गहरी साँस ली। कहा, 'चलो।' चित्रकार चुपचाप साथ हो लिया।

वैज्ञानिक कह रहा था, 'किसी का दुःख नहीं सहा जाता है और उसी को सुख में देख कर ईर्षा होती है। हम एक बात पर नहीं रह जाते।'

चित्रकार चुप रहा। कुछ देर तक वैज्ञानिक भी कुछ नहीं बोला। फिर कहा, 'वह देखो।'

चित्रकार को कुछ नहीं दिखलाई दिया। पूछा, 'क्या?'

'वह सामने।'

'सामने...।'

'कब्र है न। वहीं उसके रिश्तेदारों ने दिया बाल कर उजाला कर दिया है। कौन जाने, वह जवान मर गया हो। उसकी प्रेयसी किसी लड़के के हाथ तेल भेज कर, दिये की रोशनी में अपने को भुला लेना चाहती हो।'

'तुम पागल हो गये हो।' चित्रकार ने टोका।

'पागल' वैज्ञानिक कह कहा मार कर हँस पड़ा। 'संसार नाश की ओर है...!'

'वैज्ञानिक?'

'चुप रहो, चुप—चुप............'

'वह कितना मधुर संगीत है।' सुना जंगली लोगों में आज भी मृत्युगीत चालू है। वे किसी की मौत की पीड़ा नहीं देख सकते।'

'मौत की पीड़ा......?'

'सुना, मरने पर बहुत दुःख होता है। इसी लिये उनके यहाँ मधुर गीत गाने का रिवाज है। कहते हैं, कुछ जातियों में मरते वक्त युवतियाँ नाच, गाकर प्राणी को शांति देती हैं।'

'क्या?'

'तुमने' 'किलोपेट्रा' का नाम सुना है। भले ही कई सदियां गुजर चुकी हैं। उस युवती के सौन्दर्य की आज भी तारीफ है वह अपने प्रेमी के आगे रात्रि को अपना सब से प्रिय नाच दिखा, मोह, सुबह जहर का प्याला पीने को सौंपती थी। हर एक प्रेमी पर यह लागू था।'

चित्रकार साथ-साथ सुनता हुआ बढ़ रहा था। अब वैज्ञानिक चुप हो गया। दोनों धीरे-धीरे रास्ता नाप रहे थे कि सुना—अल्लाह ! अल्लाह !!

देखा : भिखारी बूढ़ा, लाठी के सहारे कदम पर कदम मिला कर चल रहा था।

वैज्ञानिक रुक पड़ा। खूब भिखारी को देखा, कहा, 'इसकी भी लालसायें हैं कि दिन भर में चन्द पैसे मिल जावें। 'उसी खुदा' ने इसे पैदा किया है।'

चित्रकार सुन कर बढ़ गया।

आगे सड़क के चौराहे पर वैज्ञानिक बोला, 'गुडनाइट' और चित्रकार से हाथ मिला अपने मकान की ओर बढ़ गया।

चित्रकार सीटी बजाता-बजाता वेश्या के यहाँ पहुँचा। वहाँ पहुँच चुपचाप बैठ गया।

वह बोली, 'क्या सोच रहे हो ?'

'तुम्हारे दिमाग पर...।'

'मेरा दिमाग ?'

'वैज्ञानिक कहता था कि स्त्रियों का और बन्दरों का दिमाग एक सा होता है—खासकर तुम्हारी जाति की स्त्रियों का। जब चाहे खेल लिये और फिर...।'

'अपने दोस्त की हिफाजत किया कीजिये। कहीं कोई 'भेड़ा' न बना दे।'

'मुझे तो बना चुकी न। अब उसकी बारी होगी।'

'यह झूठ है।'

'झूठ—।'

'मैं खुद तुम्हारे स्टू,डियो' में गई थी। याद है, तुम से तसवीर खिचवाने

के लिए। रोज ही तुम टालते गये। बहाना बनाते रहे—भावना नहीं उठती। उतनी हाजिरी के बाद तुमने एक दिन कहा था—तुम्हारी तसवीर शायद ही बना सकूँगा।'

'बात ठीक है, तुम्हारी तसवीर बनती और तुम भाग जातीं।'

'भाग जाती ?'

'जरूर। आज ही न देख लो......।'

'झूठ है, वादा कर भी अब तुम महीनों में आते हो।'

'तुम सुन कर आश्चर्य करोगी, अनजाने मैंने तुम्हारा चित्र बना लिया है।

'कहाँ है—।'

चित्रकार अब संभला, कहा, 'खयाली चित्र हर वक्त साथ रखता हूँ।'

वह हँस पड़ी।

चित्रकार चला आया।

एक बाद चित्रकार अपने नये चित्र के बारे में सोच रहा था। एकाएक वैज्ञानिक ने दरवाजा धकेल कर पुकारा, 'चित्रकार !'

चित्रकार की आँखें फिरी, देखा : वैज्ञानिक के बाल बिखरे थे। कपड़े फटे थे। माथे पर से खून टपक रहा था।

चित्रकार देखकर सन्न रह गया। चीख उठा, 'वैज्ञानिक।'

'ताज्जुब नहीं दुनिया समझती है, मैं पागल हो गया हूँ। राह भर बच्चे मुझ पर कंकड़ बरसाते रहे। चलते लोग घूर-घूरकर देखते रहे। ओ चित्रकार, मैं अब पा गया—पा गया।' कह वैज्ञानिक नाचने लगा—चिल्ला-चिल्लाकर कहता, 'पा गया ! पा गया !'

फिर वैज्ञानिक ने चित्रकार का हाथ पकड़ते हुए कहा—चलो, और घसीटता बाहर ले आया। चलते-चलते पहाड़ की चोटी पर दोनों पहुँचे। वैज्ञानिक ने यन्त्र ठीक किया।

घरर—घर्रर—ररर, ररर।

चित्रकार ने देखा : सुन्दर बाग, चारों ओर फूल खिले। फुहारे के पास कबूतर का जोड़ा खेल रहा था।

'हा, हा, ह,' वैज्ञानिक ठहाका मार कर हँस पड़ा। हँसा, तीव्र स्वर में चिल्लाया, 'पा गया ? पा गया !'

उसने यन्त्र पहाड़ी से नीचे की ओर लुढ़का दिया। फिर उसी सीध में नीचे की ओर दौड़ा।

चित्रकार ने पुकारा, वैज्ञानिक, वैज्ञानिक, ठहरो।'

वैज्ञानिक चिल्लाता चला जा रहा था, 'पा गया।'

'ठहरो, ठहरो।' चित्रकार काँपते बोला, 'उधर नहीं, नहीं।'

वैज्ञानिक रुका नहीं। भागता चला गया।

चित्रकार ने जोर से पुकार, 'वैज्ञानिक !'

वैज्ञानिक नदी के किनारे पहुँच, पानी में पैठं रहा था।

चित्रकार सन्न रह गया, कहा फिर, 'डूब जाओगे वैज्ञानिक।'

वैज्ञानिक पानी चीरता आगे बढ़ गवा।

चित्रकार ने देखा, गले तक पानी था।

फिर देखा—एक, दो, तीन—कई बुलबुले उठे—

आँखें मूँद चीख उठा, 'ओ वैज्ञानिक क्या यही नया आविष्कार था ?'

छाया में

मैं भाग्य और भगवान् को नहीं मानता। इस समाजिक नैतिकता का कायल नहीं। जानता हूँ कि इस भाग्य और भगवान् को एक वर्ग ने दूसरे पर हुकूमत करने का साधन बनाया है। वह बड़े हैं और हम छोटे फिर हम निम्न, निम्न, हैं! एक आदमी दूसरे के न्याय का अधिकार ले लेता है यह कम आश्चर्य की बात नहीं। हम तो केवल उस न्याय के भीतर साधन हैं। हमारी अवाज यदि उन तक पहुँच जाती है, तो वे अनसुनी कर देते हैं। रोज हमारी शक्ति कुचली जाती है—रहेगी। हम इसी तरह चुपचाप पड़े-पड़े ही रहेंगे। हम गरीब हैं। हमारा बैंक-एकाउन्ट नहीं। हमारे पास न मोटरें हैं, न कोठियाँ। मैं उस मध्यम-श्रेणी का आदमी हूँ, जिनके पास भाग्य और भगवान् का

सहारा सौंप कर उनको असहाय बना दिया गया है। उनको इस घिसी दुनिया में चलने में भले ही कुछ सहूलियत नहीं, वे फिर भी जीवन से इन्कार नहीं कर सकते हैं। उनकी व्यवस्था और लोग बनाते हैं, खुद जैसे कि वे अज्ञानी हों। तभी कभी-कभी मुझे बहुत गुस्सा चढ़ता है। आखिर ये श्रेणियाँ क्यों और किसने बनायी हैं। एक आदमी के दिमाग को दूसरा क्यों मोल ले लेता है? इसके अलावा शारीरिक शक्ति की खरीदारी का भाव-तोल अब होगा। मजदूरों की मजदूरी का उपयोग एक दरजा सिद्ध करता है। मजदूर को असहाय मान, उसे विश्वास कर लेने के लिये भाग्य और भगवान् का अज्ञेय खिलौना सौंप दिया जाता है। तो भी यह कैसा अविश्वास और अज्ञेयता जारी है। अविश्वास को जीवन-हथियार मान लेने पर आदमी कर्त्तव्य में जरूर निभ जावेगा। वह आदमी तब अपना मूल्य आँक, दूसरे के तराजू के सहारे अपने को नहीं तोलता है; यहीं तब उसके विद्रोह का आरम्भ होगा—इसकी दवा समाज, सामाजिक-कानून और धर्म में नहीं है। केवल यही क्यों, आदमी अपना स्वार्थ नहीं भुला सकता है। उसे तो अपने समस्त कारोबार की पैंठ लगानी लाजिम हो जाती है। वह किसी न किसी तरह निभना सीख लेता है। यदि कारण ही सब कुछ है आदमी क्यों नहीं उसको अपना लेता है। वह कर्म का भुलावा क्यों मान लेने तुलता है। हर वक्त निराशावादी रहेगा, जैसे कि वही उसका आपेक्षिक घनत्व हो। विज्ञान आदमी को खरा निकाल देता है। लेकिन आदमी भाग्य का रोना नहीं छोड़ सकता यह उसकी संस्कृति है। वह इसका आदी बन चुका है। न जाने कब वह सब संस्कारों के साथ हल हो चुका। अब उससे अनायास ही इन्सान अलग नहीं हो सकेगा। अपना रोग पहचान कर वहीं-वहीं रोगी की तरह पड़ा-पड़ा रहेगा। वहीं से पुकारेगा—यह भाग्य और भगवान् रूठ गया है। उनके आसरे वहीं सड़ता-गलता रहता है।

जीवन के भीतर पैठ कर कब-कब मैंने छान-बीन नहीं की। कुछ नहीं पाया। कई बार गृहस्थी के भीतर मैंने टटोला। कुछ हासिल न होकर कुछ पीड़ा बटोर चुका हूँ। यह गृहस्थी तो सारी माया जाल से भरी है। भूलभुलैया है। यह अपने पराये का अनजान खेल है आदमी हठ करता रहेगा। पाना उसे

कुछ नहीं है यह दुनिया बहुत वस्तुवादी हो चुकी। आज इन्सान उसके बीच धातु की तरह पड़ा है। कोयला है विज्ञान सिद्ध करेगा कि हीरा और ग्रेफाइट उसी की जात है। विज्ञान के अनुसार तीनों एक ही जाति के हैं। तब भी मूल्य अलग-अलग हो गया है। उपयोग और जरूरत पर वह दरजों में बाँटे गये हैं। उसी तरह आदमियों के अलग अलग दरजे हैं। बड़े, छोटे, मध्य-श्रेणी वाले; रोगी, पंगु; भिखमंगे, मजदूर, किसान—ये सब इन्सान ही हैं। फिर एक दूसरे को घूर-घूर कर देखता है। इसके बीच कोई आपसी खास समझौता नहीं है। एक दूसरे से घृणा करता है। अपने अपने दायरे की देखभाल वाली रक्षा का विवेक तथा पूर्ण ज्ञान सब को है। हर एक सावधानी से चला करता है, चारों ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देख लेता है कि कहीं खतरा तो नहीं। हरएक अपनी पैनी दृष्टि से एक दूसरे के दिल का हाल आँक लेना चाहता है। इस अविश्वास के बाद आदमी अपने को सभ्य मान, फूला नहीं समाता। ज्ञानवान अपने को साबित करता रहेगा। किसी की कहाँ सुनता है, अपने दम्भ और घमंड को ऊँचा उठा कर आसपास वालों पर रोब गालिब करेगा—देख यह हूँ मैं!

तभी तो मुझे दुनिया पर हँसी आती है। जरा एक धक्का लगा कर खत्म हो जाने वाले इस आदमी का यह क्या हाल है। चन्द साल की उसकी यह जिन्दगी है। उसको साँप, कौवे आदि की तरह सैकड़ों साल कोई जिन्दा थोड़े ही रहना है। तब भी वह नहीं समझेगा। यह है उसकी सभ्यता और और ज्ञान का हाल। ऐसे ही आदमियों पर तो मैंने सोच लेना सीख लिया है। तब मुझे लगता है कि हजारों लाशों के बीच जैसे कि मैं खड़ा हूं। उन सड़ लाशों की बदबू महसूस कर मन में उबकाई उठती है। कुछ को पहचान देखता हूँ। उनमें कीड़े पड़ गये हैं। मुझसे वह नहीं सहा जाता। वहीं मैं खुद कमजोर हूँ, अन्यथा इतना विवाद नहीं उठता। यह सब हाल नहीं बयान करता। मैं भी बुद्धिवादी हूँ। मैं सड़ रहा हूँ, कभी-कभी अपने शरीर पर पड़े कीड़ों को चिमटी से निकाल छिः छिः के साथ फेंक देता हूँ।

इस छिः छिः ने मेरे जीवन में कब प्रवेश कर लिया, कुछ मालूम नहीं।

आज बच्चे वाली युवती माताओं की ओर मैं आँखें गड़ा-गड़ा कर देखता हूँ। इस बदलते जमाने में 'बच्ची' की टट्टी पेशाब को वह छिः छिः गिनती हैं। तब सोचता हूँ—वह भावना अचैतन्य ही बचपन से जीवन के भीतर पैठ जाती है। जिससे फिर आजीवन छुटकारा नहीं हो सकता और होश आते ही आदमी सब और सारा हाल जान और समझ लेता है। कुछ अनुचित हो, मानना पड़ेगा। अभागे आदमी पर तभी मुझे बहुत तरस आता है। क्योंकि भाग्य भाग्य वह चिल्लाता रहेगा। भगवान की पुकार करेगा। यह नैतिक आरोप है जो आदमी को रोज असमर्थ बनाता जाता है। आदमी उससे अलग नहीं रहेगा। क्या सब मुझे याद नहीं है। अस्पताल से एक मरीज निकाल दिया गया। कारण कि वह गरीब था। कौन उसका भुगतान करता। वहाँ के लोगों ने देखभाल के प्रति अनिच्छा जाहिर की। पूछकर, कौन और क्या-क्या तुम्हारा दुनिया में है? समझ गये वह अभागा है। उस मरीज को मैंने सड़क पर कराहते देखा था। उसके पाँव में एक बड़ा घाव था, जिसमें कीड़े पड़ गये थे। सरकारी अस्पताल ने इस नागरिक की रक्षा को उपेक्षित गिना। वह तब सड़क तक लँगड़ाता-लँगड़ाता, वहीं पर पहुँच कर लेट गया। उसे उम्मेद थी कि तांगा या मोटर उसके जीवन को मिटा देगा; किन्तु किसी दयावान् आदमी ने, उसे किनारे सरका दिया। यह आत्महत्या समाज के हक में बुरी होती। यह उसका कैसा उपकार था! और एक मैं हूँ, उसे उठा कर घर ले आया हूँ। यह मेरा घर नहीं। किराया देता हूँ। हिसाब किताब साफ रखता हूँ, मकान-मालिक हाथ जोड़े खड़ा रहा करता है? नहीं वह मुझे किसी दिन निकाल देता। तब न जाने मुझे कहाँ-कहाँ भटकना पड़ता। अब तो मैं उसके घाव को धोता हूँ। वह उन कीड़ों की कुलबुलाहट से बार-बार सिहर उठता है। मैं टिंचर पानी से उस घाव को साफ किया करता हूँ। नासूर हो गया है। बहुत बदबू चला करती है। पड़ोसी एक डाक्टर हैं। उनकी दया से मलहम प्राप्त हो गया। वहीं लगाकर पट्टी बाँधता हूँ। किसी तरह हो, यह अहसान उस अपरचित आदमी की तरफ बरत रहा हूँ। यही है दुनिया, लाखों पड़े आदमी ऐसे ही मिलेंगे। तभी तो

गुस्सा चढ़ता है। इनकी जरूरत क्या है। इस तरह आबादी बढ़ाकर कुछ लाभ नहीं मालूम होता।

आदमी समझदार है। वह कुत्तों और चूहों को जहर की गोलियाँ देकर मिटाना चाहता है। यही स्वस्थता का एक सही पहलू है। घोड़ों को गोली आसानी से मार दी जाती है। यदि आदमियों को मिटा देने का सवाल उठेगा, वह हत्या मानी जावेगी। ताजीरात-हिन्दी की दफायें तब काम में आती है। यह बातें किसी तरह समाज पचा लेने को तैयार नही है। यह है सभ्यता का हाल! इस प्रकार मिटाने वाला पहलू पीड़ा लाता है। किसी तरह हम उसको अपनाना नहीं चाहते—इसी लिये अपने इस रोगी की फिक्र दिन भर मुझे सताया करती है। जानता हूँ, वह अच्छा नहीं होगा—इस तरह बहुत दिन घसीटने के बाद दुनिया में चलने लायक शायद ही वह हो सकेगा। कभी गुस्से में मैं पड़ोसी डाक्टर से कहता हूँ, 'डाक्टर इसको खतम कर दो। ताकि उसे एक दिन इस दुनिया से छुटकारा मिल जाय। कोई गोली दे दो, वह दुख से छुट्टी पा जावेगा।'

डाक्टर हँसकर कहता, 'मियाँ दर्शन-शास्त्र डाक्टरों को मत सिखलाओ उनका जो काम है, वे बखूबी निभा लेते हैं।'

तब अपने भीतर मुझे भारी गुस्सा चढ़ता है। अस्पताल के डाक्टरों ने इस मरीज को जगह नहीं दी, तो एक दयालु ने सड़क के किनारे सरकाया। एक मैं हूँ जो कि उस जूठे बासी आदमी को ताजा बनाने की फिक्र में हूँ। यह सब कैसा रोजगार है। क्या मेरे सिवाय दुनिया के और लोग दुनिया का सही-सही हाल जानते हैं। और मैं ही एक बेवकूफ हूँ! फिर अपने को नहीं कोसता हूँ। इस दुनिया को मैंने खूब-खूब देख लिया है। कभी इसमें धौंस जमानी नहीं चाही। पिछला सारा जीवन जितना टटोलता हूँ, लगता है एक भारी दुख खरीद, आज यह अजनवी दूकानदारी चला रहा हूँ। इस रोगी को लेकर ही अपने को सही-सही मुझे साबित नहीं करना है। मैं तो हूँ गलत! इसी से अपना अधिक हवाला नहीं देता। अपना परिचय खुद लिख बार-बार मैंने मिटा डाला है। मैं नहीं चाहता कि यह आदमी की जाति मुझे पहचान

ले। मेरा वश चले, आज ही सब को मिटा डालूँ, लेकिन लाचार हूँ। इसीलिए आदमी की तरह अपनी पिछली भावुकता को विसार नहीं सकता।

सच, वह रोहणी ही थी। मैं उसकी सारी बातें समझता था। चाह कर उस रोहणी के लिये कभो कुछ नहीं कर सका। इस रोहणी को बहुत दिनों से जानता था। तब वह रोहणी कितनी सरल थी। आगे अनमनी और उदास रहने लगी। कुछ कहेगी नहीं। जोवन उत्साह जैसे कि चूक गया हो। मैने हर तरह से उसे समझाया, विश्वास दिलाया—कठिनाई में निभ जाना ही सही इम्तहान है। रोहणी मानती कब थी। जरा बात होगी, आँसू टपकने लगेंगे। उसकी माँ का खत आया है रोहिणी को बुलाया है। रोहणी नहीं जायगी। आज वह इस घर से बाहर कहीं, किसी से मुँह दिखलाना नहीं चाहती है वह हर तरह मुझे सहारा देने की ठाने है। चाहती है कि दृढ़ बनी रहे। नारी कोमलता की सहज कमजोरी में पिघल, फिर खुद ही उलझ उलझ जाती थी। उसके मायके के लोग सम्पन्न हैं। उनको वह सहारा नहीं बनायेगी। अपनी गरीबी का ओट बना, उनकी दया की वह भूखी नहीं थी। वह उनसे भीख माँग लेने को तैयार नहीं। उसे हर तरह अपना जीवन यहीं तो काटना था। वह अपने पति को गरीब भला क्यों सावित होने देती। वह अपने बचपन को बिसारना सीख चुकी थी। इस गृहस्थी में वह आयी है। जो कि सही ठिकाना था। अब बाकी जीवन रोहणी को मेरी ही गृहस्थी में काटना था—सुख से हो, चाहे दुःख से। किसी को उसकी गृहस्थी से दिलचस्पी लेने का कोई अधिकार नहीं। कुछ फायदा थोड़े ही है। वह दोनों—पति पत्नी, ठीक तरह इसे चलाना जानते हैं। वे कहाँ किसी का आसरा ताकते हैं। पति की लापरवाही रोहणी भाँप लेती थी। ठीक तरह न खाना न पहनना, हर वक्त काम, काम, काम! घर लौट कर आयेंगे, यही दफ्तर की फाइलें! इस तरह आखिर के दिन गुजर होगी। तब रोहणी कुढ़ कर कहती; 'अच्छी नौकरी है, वाह।'

'जो कुछ है, यही है। तुम कुछ दिन के लिए माय के न चली जाओ।"

'मायके!' रोहणी को यह शब्द डस लेता था।

"तब जाने दो। यहाँ तो......!"

'वहाँ जैसे कि सब मेरी फिक्र करने की जिम्मेदारी ले लेवेंगे। यही ठीक है। बार-बार न जाने क्यों तुम डराया करते हो।

'खुद तुम ही झुँझलाती हो।'

'मैं न' यह कसूर जैसे कि अभी तक रोहिणी को मालूम नहीं हुआ था। अब ज्ञात हो जाने पर, वह शरमा, जमीन पर निगह गड़ा देती। वह पति की आभारी है। उसका आदर करती है।

और मैं कुछ क्या कह सकता। वह रोहणीं और मैं ही इस गृहस्थी को चला रहे थे। रोहणी के मायके का एक छोटा नौकर है। उसके बाद हमारी तीस रुपये महीने की आमदनी है, जो पहली तारीख को वसूल हो जाती है। एक बड़ा दफ्तर है। वहाँ पढ़े-लिखे मजदूर की हैसियत से मैं काम किया करता था। वहाँ बहुत और बाबू लोग थे। वहाँ आदमी-आदमी का झगड़ा था। वहाँ भी दलबन्दी थी। बड़े बाबू ब्राहमण थे और छोटे कायस्थ। कुछ थोड़ा आदमी को पहचान लेना सीखा है। वह बड़े बाबू स्वभावतः बुद्ध थे। तब छोटे बाबू का ऊपरी हाथ चलता था। वह उनकी बड़ाई थी। मैं फिर भी दल बनाने का पक्षपाती नहीं। कारण कि आदमी के जीवन में बहुत रुकावटें हैं। आदमी के बारे में तब अधिक ज्ञान मुझे नहीं था। मैं तो समझता था कि आदमी ईमानदार और सभ्य जन्तु है। यह कब मालूम था कि उस आफिस का भी शासन होगा। वहाँ हुकूमत करने वाले बेकार कायदे चालू रहते हैं। वह बड़ा दफतर :

एक बड़ी मेज, उसपर नीली रोशनायी से रंगी चादर और फैले हुए बड़े-बड़े कागज! जिनको कि छोटे-छोटे कङ्कड़ों से हम दबा लिया करते थे कि वे उड़ नहीं जायें। नियमित सुबह नौ बजे से संध्या सात तक काम करना। जरा कुछ कहने पर कठोर और कड़वी धमकियाँ! मेज के चारों ओर वाली कुर्सियों पर क्लर्क बैठे रहा करते थे। वैसी ही पाँच सात मेजें थीं। सब का निरीक्षण-कार्य छोटे बाबू के सुपुर्द था।

मैं उस चेहरे को आज भी नहीं भूला हूँ। उस चेहरे पर पिशाच की छाप थी। उस हृदय पर बार-बार मैल जमा होता रहता था। उसी तरह जैसे

कि गोबर के ऊपर बैठा कीड़ा गोलियाँ बनाया करता है। छोटे बाबू का समाज भी मैला ही था। लेकिन........! सोचता हूँ उस हिन्दुस्तानी अफसर की बातें जो कहता था, 'बाबू यह हाल है हिन्दुस्तान का, सात हजार अर्जियाँ आयी थी, किसको नौकरी दी जाती।'

मैं हिन्दुस्तान की बेकारी से परिचित था। अपनी-सी हैसियत वालों को कौन नहीं पहचानते हैं। कुछ मन को ऊँचा न उठा, चुपके कहा था, 'हजूर ठीक फरमाते हैं।'

कितना बनावटी जीवन! वहाँ गन्दगी कम नही हुई। वह हजूर अपने को बहुत ऊँचा गिना करते थे। यह सब देख कर मैं कई बार अलग एकान्त में ठहठहा मार कर खूब खूब हँसा, करता था। मेरी सूखी हँसी, दिल पर खट-खट आवाज करती, जैसे कि मैं रोगी होता जा रहा था। उसके बाद छोटे बाबू के बतीव से दिल पर कभो तो बहुत कड़ी चोट लगती थी। रोहणी बाजार से कुछ कटपीस के टुकड़े लाने को कहती है। वह इतवार है। मैं कहाँ मना करता हूँ। चाहता हूँ कि किसी तरह रोहणी खुश रहे। लेकिन उस इतवार को भी दफ्तर है। चौबीस घण्टों और महीने के पूरे दिनों की चोखी मजदूरी गिन कर मिलती है। कुछ कैसे कहा जा सकता है। झट छोटे बाबू की तेवरियाँ चढ़ जायँगी। वह बोलेंगे, "आप लोग बेईमान हैं, ईमानदारी से काम नहीं करना चाहते हैं। अभी चाहूँ आपको बर्खास्त करवा सकता हूँ। यह यतीमखाना नहीं है। आप लोगों ने नौकरी क्या मजाक समझी है।"

उस बात को विवाद नहीं बनाया जा सकता है। पढ़ा-लिखा मजदूर कानून को जानता है। अपना विद्रोह उसी के लिये बुरा होगा। वह जीवन-लालच एकाएक नहीं बिसार सकता है। तब से कई बार मैं ईमानदारी की व्याख्या कर लेना चाहता हुँ। आज यह मरीज जिसके घाव पर कई कीड़े दवा लगाते मर जाते हैं, उसे मैं ठीक-ठीक आदमी को तरह पहचान लेंना चाहता हूँ। उन कीड़ों को हथेली पर रख देखता हूँ कि वे रेंगते हैं। उनका भो जीवन है। तब वह शरीर को खा कर जिन्दा क्यों रहना सीखे हैं। इसी से बार-बार सोचता हूँ, दफ्तर में छोटे बाबू इनकीड़ों से कम होशियार नहीं थे। यह दफ्तर

टेम्परेरी था। ठेके पर वहाँ काम जारी हुआ था। साहब अपने काम को जल्दी खत्म देखना चाहते थे। उनकी तरक्की उस पर ही निर्भर थी। छोटे बाबू को उम्मेद थी वे जल्दी बड़े बाबू बन जायेंगे। आदमी कब-कब अपने स्वार्थ के लिये चौकन्ना नहीं रहा करता है। बरसात है, बहुत गरमी, फिर वही काम, काम, काम......! फाइलें; पैड और बड़े-बड़े स्टेटमेंण्ट। हर तरह अपनी कारगुजारी पूरी करनी पड़ेगी। आदमी का मूल्य चुकाया गया है। आमदनी के लिये तब क्यों सहानुभूति बरती जाये।

किन्तु, रोहणी की तबियत खराब रहती है। आजकल वह न जाने क्यों बहुत डरा करती थी। खाना ठीक ठीक हजम नहीं होता है। वह पीली पड़ती जा रही है। दुःख तो यह बात बात में इकट्ठा कर लेना सीख गयी थी। उसे कितना नहीं समझाया, कोई बात नहीं। इसी तरह दुनिया चलती है। खुद मैं न जाने किस तरह अपने को चला रहा था। रोहणी भला कैसे जान लेती। वह दफ्तर, उस संस्था, वहाँ के अफसरों के प्रति भारी घृणा होने पर भी, मैंने कभी अपने को गलत साबित नहीं किया, तो रोहणी को कैसे धीरज देता। उसे समझाना चाहता था, नौकरी का यही हाल है—ऐसा ही रहेगा। वह तकरार भले ही न करे, परेशान रहेगी। बहुत थक जाने पर जब कुर्सी पर बैठ जाता था, रोहणी टकटकी लगा कर देखती रहेगी। उससे मैं क्या कहूँ। वह नहीं चाहती इस तरह रात को जाग-जाग कर दफ़्तर में काम किया जाय। वह कहाँ जानती थी, तीस रुपया एक बड़ा खजाना है। जिसके आगे यह सारा जीवन और दुनिया ओछी है।

रोहणी की तबियत खराब है। दर्द बढ़ता जा रहा था। सुबह आकर दायी सावधान कर गयी। रोहणी बच्ची है, रोने लगेगी। मैं उसकी चिल्लाहट सुनता हूँ। उसे किस तरह धीरज दूँ। नौकरी पर जाना है। आफिस में रिट्रेञ्चमेंण्ट (कमी) होने की सम्भावना है। कहीं बेकार हो जाऊँगा, फिर क्या गति होगी? रोहिणी से अधिक लोभ नौकरी का है। नौकरी से ही रोहणी की गुजर होती है। एक लम्बे अरसे तक मैंने देखा कि बेकार आदमी की कोई इज्जत नहीं होती। समाज के लोग उस पर अँगुली उठाते हैं। जिन्दगी को चलाने

तो पैसा चाहिये। वह पैसा जरूरत है और नौकरी से मिलता है। चार जूते छोटे बाबू मार कर भी पैसा दे दें. मैं सब कुछ सहूँगा। मेरी एक बीबी है। मैं गृहस्थ हूँ। मैंने माया-जाल जोड़ लेने के बाद आत्म-सन्मान को बिसार दिया था।

उस दिन भी क्या रात को काम करना था। जरूरी एक रिपोर्ट तैयार करनी थी। छुटकारा भला कैसे मिलता। रोहणी की तबियत सुबह से खराब थी, यह अच्छी तरह मैं जानता था। नौकर से क्या होगा। रात को काम कहाँ होता था। एक उदासी घेरती जाती थी। छोटे बाबू का हुक्म था रिपोर्ट खतम होंने पर जाना होगा। व्यक्तिगत साधारण बीमारियों के पीछे काम नहीं रुक सकता है। वह कथन भी ठीक था बार-बार खूली की आँखों से मैं उनकी ओर घूरता था। परवशता तो आदमी ने खुद ही अपनायी है। वह कमजोरी को पी लेता है। अथवा इस तरह क्यों पड़ा रहता! रोहणी को मैंने हर तरह से जाना है। एक दिन अबोध लड़की की तरह मेरी बातों पर ताका करती थी। उसकी आँखों वाला आश्चर्य कब-कब मैंने नहीं भांपा। वह शरमाना ही भूल गयी। पति के आगे सब कुछ कह, तकरार करती थी। पीछे-पीछे पति को अपना कर्त्तव्य उसने गिन लिया था। उसकी आज्ञा मान लेना, निजी झुंझलाहट वह हटाती चली गयी। वही रोहणी मां बनने का ख्वाब देख रही थी! कितनी खुश नहीं थी। मैं जानता था कि उस माँ के आगे पिता का दरजा पा जाऊँगा। मैं इसी तरह नौकरी करूँगा। रोहणी जीवन में आगे चलेगी......चलेगी...।

आज मैं कह सकता हूँ, यह नौकरी और उसके पीछे पैसा देना अनुचित है। वहाँ स्वस्थता नहीं। वहाँ छोटे बाबू सरीखे लुच्चे और बदमाश आदमी की ही गुजर हो सकती है उस नौकरी पर इस रोगी की तरह कीड़े पड़ गये है। जिसका उपचार अफसरान नहीं करना चाहते हैं। वे जान कर अनजान बने रहेंगे। आफिस पर एक झूठा आतंक जमा, वे छोटे को कुचल-कुचल डालना चाहते हैं। उसे वह ऊपर नहीं उठाना चाहते हैं कि वह हल्ला करेगा। उसकी आवाज सुनाई देगी। दुनिया में हर जगह बड़ों का ऊपरी हाथ है। छोटों का

अपना मान नहीं। यह सभ्यता आदमी को पंगु बनाती जा रही है। एक दरबा रोज अपने को छोटा ही देखता है। अपनी निम्नता से वह दबा ही रहता है। बड़े उसे कुचलेंगे और एक दिन वह इसी रोगी की तरह सड़क पर मौत की राह ताकेगा। भाग्य और भगवान के आसरे यहाँ पड़ रहना उसका हेतु है। तब मैं ही क्यों तर्क किया करता हूँ। इतनी बड़ी दुनिया का भार कोई मुझे ही तो अकेले उठाना नहीं है। लेकिन मैं आदमी हूँ, मुझे दलील करने का हक है। चाहे मेरा दावा झूठा ही क्यों नहीं हो, मैं भी कह सकता हूँ।

रोहणी के पास रात के तीन बजे पहुँचा था। वह मुझे छटपटाती मिली। मैं दौड़ा-दौड़ा दाई के पास आ पहुँचा। वह आयी। रोहिणी फिर भी छटपटाती-छटपटाती रही। मैं डाक्टर के पास पहुँचा उसने आकर हालत देखी। दोनों ने फैसला किया, रोहणी बहुत कमजोर है। उसकी ठीक परवाह होनी चाहिए थी। कुछ हो रोहिणी न जाने क्यों मर गयी। वह उतनी बड़ी निराशा, मुझे भय की तरह लगी। यह आदमी कितना पागल है। मेरी तरह समझा करता है, रोहिणी उसकी थी। उस सारी गृहस्थी का आखिरी तमाशा देख तीन-चार दिन तक मैं आफिस नहीं गया और पाँचवें दिन जब पहुँचा, वही छोटे बाबू की तेवरी चढ़ी आँखें मिलीं! वह बोले, 'मिस्टर आपकी नौकरी............।'

वे और कुछ कहें कि मुझे गुस्सा चढ़ा। जोर से एक चाँटा रसीदकर बोला, 'में इस्तीफा देने आया हूं। मुझे नौकरी की कोई जरूरत नहीं है। यह सारा नौकरी वाला व्यवसाय एक गलत नीव पर खड़ा है।'

यही है न जीवन का एक खेल! तब इस रोगी को क्यों अपने घर लादकर ले आया हूँ। बेकार आदमी हूँ। साधारण-सी मजदूरी की है। दो ट्यूशन पास हैं। वे पैसा देते हैं। क्या मैं इस अपाहिज और अभागे को बचा सकूँगा। यह तो गरीब है। भाग्य और दाता के नाम की चिल्लाहट करता करता सड़क पर पड़ा था! मैं हूँ बड़ा दयावान, उसे उठा लाया हूँ। इस साले को खाना खिलाता हूँ, जान कर कि यह आदमी की जात, कुत्ते की जात से भी बुरी है।

वह क्यों न जाने मुझे लोभ देता है कि उसकी एक बीबी है। उसके पास यदि मैं पहुँचा सकूँ, वह इसकी हिफाजत करेगी। न जाने कहाँ इसका गाँव है। अर्थात् जो मन में आता है बका करता है। इस बेवकूफ की बातों की मुझे अधिक परवाह नहीं है।

मोहनी हो, चाहे यह रोगी। मैं दुनिया के बहाने को खूब-खूब पहचानता हूँ। जानता हूँ कि सभ्यता की छाया में.........................।